श्रीवाल्लभग्रन्थमाला–द्वितीय पुष्प

गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथविरचित

भक्तिहेतुनिर्णय

गोस्वामिश्रीरघुनाथकृतविवृतिसहित

सम्पादन, हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या

केदारनाथ मिश्र

दर्शन-विभाग, कला सङ्काय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आमुख लेखक

डॉ० रामशङ्कर मिश्र

मालवीय प्रोफ़ेसर—तुलनात्मक धर्म

अध्यक्ष—दर्शन विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आनन्द प्रकाशन संस्थान

वाराणसी–२२१००५ (भारत)

शास्त्रमवगत्य मनोवाग्देहैः कृष्णः सेव्यः।

(श्रीवल्लभाचार्याः)

श्रीवाल्लभग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक

केदारनाथ मिश्र

दर्शन-विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आनन्द प्रकाशन संस्थान

वाराणसी–२२१००५ (भारत)

प्रकाशक

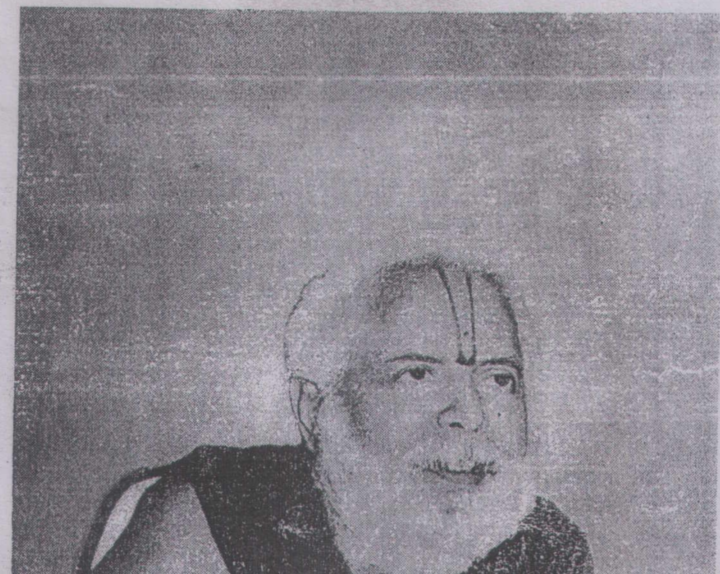
आनन्द प्रकाशन संस्थान

प्रथम संस्करण १९७८ ई०

मुद्रक

श्रीगोकुल मुद्रणालय

वाराणसी-१



नित्यलीलास्थ श्रीशशिकलाबेटीजीकी

पुण्य-स्मृतिमें

सादर

समर्पित

भक्तिहेतुं विनिश्चित्य प्रवृत्तो भजने तु यः ।
तन्मनस्तोषकारिण्यस्त्वियं कृतिरनिन्दिता ॥

आमुख

वेदान्तके विभिन्न सम्प्रदायोंमें श्रीमद्वल्लभाचार्य द्वारा संस्थापित शुद्धाद्वैतवादको एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है। भारतीय धर्म-दर्शनके क्षेत्रमें इस सम्प्रदायकी महती देन है।

'भक्तिहेतुनिर्णय' इस सम्प्रदायके अन्यतम आचार्य तथा श्रीवल्लभाचार्यके पुत्र गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथकी एक अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण तथा गम्भीर-चिन्तन सम्पन्न कृति है।

जैसा कि इसके नामसे स्पष्ट है इसमें भक्तिके मूल कारण अथवा असाधारण कारण का निर्णय किया गया है। भक्तिके हेतुके सम्बन्धमें इस ग्रन्थमें अत्यन्त मौलिक तथा गम्भीर प्रश्न उठाये गये हैं और उनका श्रुति-सम्मत तथा अनुभव-अनुमोदित तर्क द्वारा समाधान करनेका प्रयत्न किया गया है। आचार्य विट्ठलनाथकी दृष्टिसे भक्तिका मूलकारण भगवदनुग्रह है। भगवान्‌के परम अनुग्रहसे ही जीवमें भक्तिका स्फुरण व विकास होता है। भगवान्‌के अनुग्रहके अतिरिक्त भक्तिका कोई अन्य कारण नहीं है। यदि भगवान्‌का अनुग्रह न हो तो केवल धर्माचरण आदि साधनोंद्वारा किसी भी व्यक्तिको भक्तिकी प्राप्ति सम्भव नहीं है। भक्ति कर्मसाध्य नहीं है, वह केवल भगवान्‌के अनुग्रहसे ही प्राप्त होती है, यह पुष्टिमार्गका सिद्धान्त है जिसे गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथने अपने सुदृढ़ तथा सशक्त चिन्तन द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थमें प्रतिष्ठित किया है। इस सिद्धान्तकी स्थापनामें आचार्य विट्ठलनाथने अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिका परिचय दिया है। उन्होंने भक्तिको प्रकृतिजन्य तत्त्व नहीं माना है। वह काल, कर्म, स्वभाव से सर्वथा स्वतन्त्र एक अलौकिक तत्त्व है जिसके स्रोत स्वयं तथा साक्षात् भगवान् ही हैं। भक्ति भगवान्‌का प्रसाद है जो जीवको प्राप्त होता है। उसकी प्राप्ति जीवकी योग्यता पर निर्भर नहीं करती प्रत्युत वह केवल भगवान्‌की इच्छापर ही निर्भर करती है। जीव भगवान् का अंश है, उसके अन्दर भगवान्‌की इच्छा कार्य कर रही है जो उसे भक्तिरूपी प्रसाद देकर दिव्य अलौकिक जीवनकी ओर अग्रसर करती है और उसके अन्दर भगवत्स्वरूपप्राप्तिकी अचल तथा अदम्य अभीप्सा उत्पन्न करती है। अतः भक्तिके कारण तथा लक्ष्य स्वयं भगवान् ही हैं कोई अन्य नहीं यह वाल्लभ सम्प्रदाय अथवा पुष्टिमार्ग का सुविचारित, श्रुतिसम्मत तथा हृदयग्राह्य सिद्धान्त है।

'भक्तिहेतुनिर्णय' भक्ति-विषयक धर्म-दर्शनका एक उच्चकोटिका ग्रन्थ है तथा भक्तिके रहस्यके विषयमें सूक्ष्म दृष्टि प्रदान करता है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके दर्शनविभागके अध्यापक पं० केदारनाथ मिश्रने आचार्य रघुनाथ द्वारा विरचित 'भक्तिहेतुनिर्णयविवृति' सहित इस ग्रन्थका हिन्दीमें सरल, सुबोध व प्रामाणिक अनुवाद तथा व्याख्या प्रस्तुत करके एक श्लाघनीय कार्य किया है, इसके लिए धर्म-दर्शनके विद्वान् तथा विद्यार्थी उनके प्रति अवश्य कृतज्ञ होंगे तथा हिन्दी भाषामें उच्चकोटिके दार्शनिक ग्रन्थोंका जो अभाव है वह भी कुछ अंश तक दूर होगा। मिश्रजीने इस ग्रन्थकी अपनी पाण्डित्यपूर्ण भूमिकामें गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथके जीवन तथा उनकी कृतियों के विषयमें जो अनेक भ्रान्त धारणायें हैं उन्हें भी सप्रमाण दूर करनेका सराहनीय प्रयास किया है। प्रस्तुत ग्रन्थके सम्पादनसे उनका अथक परिश्रम, पाण्डित्य तथा शुद्धाद्वैतपुष्टिमार्गीय वाङ्मयका गम्भीर अध्ययन व चिन्तन स्पष्ट रूपसे परिलक्षित होता है। 'भक्तिहेतुनिर्णय' में उल्लिखित उद्धरणोंको उन्होंने अत्यन्त परिश्रमसे उनके मूलग्रन्थोंसे सम्बद्ध किया है। यह शोधकार्यके लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। ग्रन्थके अन्तमें उनके द्वारा दी हुई श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंकी तथा विषयसे सम्बद्ध अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंकी अनुक्रमणिका भी शोधकार्यमें पर्याप्त सहायता प्रदान करेगी इसमें सन्देह नहीं। इस स्तुत्य कार्यके लिए हम श्रीमिश्रजीको हार्दिक बधाई देते हैं।

रामशङ्कर मिश्र
मालवीय प्रोफ़ेसर—तुलनात्मक धर्म
अध्यक्ष—दर्शन-विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

गणतन्त्रदिवस (२६–१–१९७८)
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

शुभाशंसा

॥ श्रीहरिः ॥

जयति श्रीवल्लभार्यो जयति च विट्ठलेश्वरः प्रभुः श्रीमान् ।
पुरुषोत्तमश्च तैश्च निर्दिष्टा पुष्टिपद्धतिर्जयति ॥

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण तथा गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ प्रभुचरण द्वारा प्रवर्तित शुद्धाद्वैतमतानुसारी पुष्टिमार्गीय दृष्टिकोणके अनुसार समग्र जगत् तथा उसके प्रत्येक क्रियाकलाप परब्रह्म परमात्मा भगवान् श्रीकृष्णकी परमेच्छा तथा परमा क्रियाशक्ति एवं परमा ज्ञानशक्ति की ही आंशिक अभिव्यक्ति हैं । श्रीमदाचार्यचरण अतएव आज्ञा करते हैं,

" 'स नैव रेमे, तस्माद् एकाकी न रमते । स द्वितीयमैच्छत् । स हैतावानास ।' (बृह० उप० १ । ४ । ३) इत्यादिश्रुतिभिः, 'एष उ एव' (कौषी० ब्राह्म० उप० ३ । ८) इति श्रुतेश्च, तानि तानि साधनानि कारयित्वा तानि तानि फलानि ददद् भगवान् स्वक्रीडार्थमेव जगद्रूपेणाविर्भूय क्रीडति इति वैदिकै- र्निर्णीयते ।" (अणुभाष्य १ । १ । ११) ।

अर्थात् कर्ता, क्रिया, तत्साधन और तत्फल यों प्रत्येक स्तरपर परब्रह्मकी इच्छा ही एक परमहेतु है । परमात्मा ही विभिन्न रूपोंमें क्रीडा कर रहा है । यहाँ माया, प्रकृति, परमाणु, अदृष्ट या अभाव जैसी किसी भी ब्रह्मेतर वस्तुकी कल्पनासे रहित एकमेव ब्रह्मको अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानना ही 'शुद्धाद्वैत मत' कहलाता है । वैसे तो इस प्रकारके ब्रह्म या परमात्मा की कल्पना अन्य दार्शनिकोंने भी प्रस्तुत की ही है परन्तु श्रीमहाप्रभुका वैशिष्टच इस 'शुद्ध + अद्वैत' के कारण नहीं अपितु 'साकार-ब्रह्मवाद' के कारण है । यद्यपि 'साकार' विशेषण द्वारा वही व्यावृत्ति मिल जाती है । 'ब्रह्मवाद' से तात्पर्य है जगत्की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय में ब्रह्म और केवल ब्रह्म को ही अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानना । परन्तु यह अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म यदि भक्तके हृदयके परमानन्दरूप परमात्माके बारेमें रहे हुवे मनोरथोंको

पूर्ण करनेवाले आकारको ग्रहण करनेमें समर्थ न हो—वह साकार न हो पाता हो, तो पुष्टिमार्गका प्रवर्तन सम्भव नहीं। परब्रह्मका अलौकिक आनन्दाकार ही पुष्टिमार्गका उत्स है।

यद्यपि भगवद्गीतामें भी अर्जुनको दिव्यदृष्टि प्रदान कर भगवान् श्रीकृष्णने अपना अलौकिक आकार दिखलाया। भगवान्का आकार यदि माया-(-अविद्या-)-कल्पित होता तो दिव्यदृष्टिके पैनेपनसे मायावरण दूर होकर अर्जुनकी स्थिति शुद्ध निराकारमें सम्भव हो जाती। प्रभाव परन्तु दिव्यदृष्टिका विपरीत दिखलायी पड़ता है। दिव्यताके समस्त आश्वासनके बावजूद अर्जुन दिव्यदृष्टिके मोहसे अलग होकर प्रभुसे यही प्रार्थना करता हुवा दिखलायी पड़ रहा है कि दिव्यदृष्टिसे दिखलायी देनेवाली प्रभुकी सर्वाकारताके बजाय जो आकार स्वयं अर्जुनको रथ हाँकनेके लिये प्रभुने लिया है वही मित्राकार सर्वश्रेष्ठ है, कम-से-कम अर्जुनके लिये, ऋषिगण और देवगण की बात वे स्वयं जानें! इसी आकारमें पुष्टिभक्ति निहित है। अतएव माँ यशोदा श्रीकृष्णमुखमें समग्र ब्रह्माण्ड दर्शन करनेके बाद उसे भी एक भूत-प्रेत बाधा ही समझती हैं—तत्त्वसाक्षात्कार नहीं। पुष्टिभक्तिकी इसी आकारमें प्रतिष्ठा है। अतएव 'साकारब्रह्मवाद' में जब ब्रह्मको 'सर्वाकार' माना जाये तो शुद्धाद्वैत दर्शनका बोध होता है और जब 'साकार' भक्तोंके द्वारा प्रदत्त 'भावयोगपरिभावित' आकारके अर्थमें लिया जाता है तो वह पुष्टिमार्गका बोध कराता है।

'भाव' स्नेहवाची है तथा 'योग' माहात्म्यज्ञानवाची है। माहात्म्यज्ञान-पूर्वक सुदृढ सर्वतोऽधिकस्नेहप्रयुक्त भगवान्का आकार पुष्टिपथके पथिकोंको पुष्टिभक्तिपर दौड़नेके लिये बाध्य करता है। यह आकार न मायिक है और न आविद्यक। चित्तवृत्तिनिरोधार्थं यमनियमादिवाले रूक्ष योगके लिये जो ईश्वरके आकारकी कल्पना की जाती है, वैसा कल्पित आकार भी यह नहीं, अपितु परमसत्य आकार यह परमात्माका अपने परमभक्तोंके लिये परमानुकम्पासे तथा सर्वभवनसामर्थ्यसे लिया हुवा होता है। यही पुष्टिभक्तिका आलम्बन बनता है और प्रयोजन भी। इसी आकारमें पुष्टिभक्तिका हेतु भी निहित है। अतएव भागवतमें कहा गया है,

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ पुंसाम्।
यद्यद्धिया त उरुगाय! विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥
(भाग० ३।९।११)।

अर्थात् हे नाथ! आप निश्चय ही भक्तोंके भावयोग (भक्तियोग) द्वारा परिशुद्ध हुए हृदयकमलमें निवास करते हैं। हे पुण्यश्लोक! आपके भक्तजन जिन-जिन रूपोंकी भावना करते हैं, उनपर अबाधित अनुग्रह करनेके लिए, आप उन्हीं रूपों (ब्रह्मरूप, वैकुण्ठरूप या अवताररूप आदि) को धारण कर लेते हैं। (भाग० ३।९।११)।

यह भावयोगपरिभावित आकार अनुग्रहमूलक है कि अनुग्रह एतदाकार-मूलक होता है? इन्हें अन्योऽन्याश्रित कहना ही अधिक उचित होगा क्योंकि जब तक परब्रह्म इस आकारमें अपने-आपको ढाल नहीं लेता तब तक पुष्टिभक्तिको जगा भी नहीं पाता। 'पुष्टि' का अर्थ अनुग्रह है और 'पुष्टि-भक्ति' का अर्थ होता है अनुग्रहजन्य भक्ति।

परब्रह्मका स्वरूप परमानन्दात्मक माना गया है। अतः ब्रह्माण्डसृष्टिमें भी प्रयोजन केवल उस आत्माराम आप्तकाम परमात्माका परमानन्दानुभव ही है। तदनुसार जब वह आत्मसृष्ट सृष्टिमें परमानन्दानुभवप्रेप्सु बनता है— स्नेहयुक्त होता है, तो हम उसे 'अनुग्रह' कहते हैं। और इन तापक स्नेहरश्मियोंसे जब जीवात्मा तप्त होकर 'ब्रह्म-सम्बद्ध' हो जाती है, पुनः उन रश्मियोंका आत्मासे परमात्माकी ओर परावर्तन होता है और इन्हीं परावर्तित रश्मियोंमें चन्द्रमासे परावर्तित होती हुई चन्द्रिका जैसी शीतलता आ जाती है, और इसे हम पुष्टिभक्ति कहते हैं। अतएव श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं, "न वा इच्छाविशेषो रतिः, विशेषस्य निर्वक्तुमशक्यत्वात्। सुखविषयिणीच्छा न रतिः, स्वर्गकामनायास्तथात्वप्रसङ्गात्, पुत्रादिषु तदभावप्रसङ्गाच्च। अतः स्नेहः पदार्थान्तरम्। स भगवन्निष्ठ एव भगवद्विषयको ज्ञानवदैश्वर्यवद्वा भगवत्सम्बन्धात्सन्नैकट्यादन्यत्रापि भासते, उष्णस्पर्शवत्। यथा यथा भगवन्नैकट्यं तथा तथा स्नेहातिशयः। शारीरेऽप्यात्मनि तेन सहातिनैकट्यात् परमस्नेहत्वम्। एवमध्यासेनान्यत्र।" (भाग० १।१९।१६)।

भगवन्निष्ठ जीवविषयक स्नेह पुष्टि—अनुग्रहपदवाच्य होता है तथा जीवसे परावृत्त भगवन्निष्ठ भगवद्विषयकस्नेह पुष्टिभक्तिपदवाच्य होता है। यह व्याख्या केवल उस निरुपाधिक स्नेह की है जो किसी भी प्रकारके विषयानन्दसे लेकर मोक्षरूप ब्रह्मानन्दपर्यन्त किसी भी प्रकारकी कामनासे ग्रस्त नहीं हो जाता। अन्यथा वह 'पुष्टिभक्ति' नहीं किन्तु 'मर्यादाभक्ति' कहलाता है। भगवान्में जब मोक्षदातृत्वोपाधिक स्नेह हो तो वह भी प्रगाढ़ हो सकता है—सुदृढ़ हो सकता है, परन्तु ऐसे स्नेहको निरुपाधिक नहीं माना जाता,

अतएव भगवान्में केवल स्वरूपविषयिणी आसक्ति ही पुष्टिभक्तिपदवाच्य है। अतएव संक्षेपमें हम अनुग्रहका विश्लेषण अधोलिखित प्रकारसे समझ सकते हैं।

- अनुग्रह
  - सामर्थ्यानुपाती
    - ऐश्वर्य-वीर्य-यशः-श्री-ज्ञान-वैराग्यादिधर्म-प्राकट्यकारी
      - सुसाधनजीवविषयक
        - प्रसाद (साधनाधिक फलप्रद)
        - तोष (साधनानुकूल फलप्रद)
      - निःसाधनजीवविषयक
        - दया
      - दुष्टसाधन-जीवविषयक
        - क्षमा
      - (दया, क्षमा —) काल-कर्म-स्वभावादिबाधक
  - स्वभावानुपाती
    - पुष्टिजीवविषयक
    - आनन्दात्मकधर्मिप्राकट्यकारी
      - स्वरूपासक्तिप्रद

संक्षेपमें इस तरह अनुग्रहके ये रूप यथायोग पुष्टिमार्गीय जीव एवं मर्यादामार्गीय जीव के ऊपर प्रकट हो सकते हैं। सामर्थ्यानुपाती अनुग्रहकी कामना पुष्टिजीवोंमें नहीं होनी चाहिये—भगवान् वैसा अनुग्रह करें यह एक और बात है। स्वभावानुपाती अनुग्रह ही पुष्टिभक्तिका उत्स है जिसे श्रीमदाचार्यचरणके पूर्वोद्धृत वचन **'स्नेहः पदार्थान्तरम्'** (भाग० सुबोधिनी १।१९।१६) में तथा प्रभुचरणोक्त **'तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिश्च नुमः'** (भक्तिहेतुनिर्णय, पृष्ठ १) इत्यादि वाक्यमें अभिन्नतया समझना चाहिये। यही स्वभावानुपाती अनुग्रह साक्षात् भगवत्स्वरूपासक्तिका हेतु है और यही भक्तिहेतुनिर्णयका मुख्य वर्ण्य विषय है। एक ऐसी स्वतन्त्रा भक्तिकी सिद्धि जो अनुग्रहेतर किसी कारणसे प्रादुर्भूत न हो पाती हो,

> **'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावः खगा मृगाः।**
> **येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा॥** (भाग० ११ : १२ । ८)।

आदिमें वर्णित केवल स्वरूपासक्तिरूपा भक्ति, पुष्टिभक्ति ही स्वाभावानुपाती अनुग्रहसे जन्य होती हैं। अन्य सारे प्रकार भगवान्के अनुग्रहके सामर्थ्यानुपाती

अनुग्रहके होते हैं और वैसे अनुग्रहसे जन्य या वैसे अनुग्रहको सम्पादित करनेवाली भक्ति मर्यादाभक्ति कहलाती है। मर्यादाभक्तिसे जन्यत्वेन या जनकत्वेन सम्बद्ध अनुग्रह प्रस्तुत ग्रन्थमें वर्ण्य अनुग्रह नहीं। यह बात कुछ और है कि पुष्टिभक्तपर भी कभी भगवान् अपना प्रसाद, तोष, दया या क्षमा प्रकट करें। वह भगवदिच्छा है परन्तु पुष्टिभक्तकी पुष्टिभक्तिका स्वभाव नहीं।

श्रीवाल्लभग्रन्थमालाके द्वितीय पुष्पके रूपमें भक्तिहेतुनिर्णय के प्रकाशन द्वारा वस्तुतः इस विषयमें रुचि रखनेवाले सभी पुष्टिप्रेमियोंका महान् उपकार होगा ऐसा हमारा दृढ विश्वास है। विश्वविद्यालयीय अनेकविध व्यस्तताके बावजूद जितने सुन्दर तथा सुरुचिपूर्ण ढंगसे इस ग्रन्थराजको सम्पादित, अनूदित तथा प्रकाशित कर पानेके भगवदनुग्रहभाजन श्रीयुत केदारनाथ मिश्रजी बने हैं तदर्थ जो कुछ कहा जाये सो कम ही है।

श्रीवल्लभ विद्यापीठ एवं
श्रीविट्ठलेशप्रभुचरण मिशन
आश्रम, चुनार
श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणजयन्ती
श्रीवल्लभाब्द ५००

गो० श्याम
(गोस्वामिश्रीश्याममनोहरजी)

सम्पादकीय निवेदन

वेदान्तके सम्प्रदायप्रवर्तक आचार्योंकी श्रृङ्खलाकी अन्तिम महत्त्वपूर्ण कड़ी श्रीवल्लभाचार्य दर्शनके क्षेत्रमें शुद्धाद्वैत वेदान्तके संस्थापक और धर्मके क्षेत्रमें पुष्टिमार्गके प्रवर्तकके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उनके चिन्तनसे अपरिचित रहनेपर भारतीय दर्शन—विशेषतः अद्वैत और वैष्णव दर्शन—का ज्ञान तो अधूरा रहता ही है हिन्दीके अष्टछाप कवियोंकी कविताका मर्म भी नहीं समझा जा सकता। विभिन्न कारणोंसे उनके तथा उनके अनुयायी विद्वानों द्वारा संस्कृतमें लिखे गये दार्शनिक एवं धार्मिक ग्रन्थोंका अध्ययन-अध्यापन गिने-चुने लोगों तक ही सीमित रह गया है फलतः अल्पज्ञानदुर्विदग्ध लोगों द्वारा लिखे गये अप्रामाणिक और अविचारितरमणीय ग्रन्थोंके पठन-पाठनमें प्रचलित होनेके कारण न केवल साधारण व्यक्तियोंमें अपितु पढ़े-लिखे लोगोंमें भी वाल्लभ दर्शन एवं धर्म के सम्बन्धमें अनेक भ्रान्त धारणाएँ बद्धमूल हो गयी हैं जिनका अपनोदन करनेका एक उपाय यह है कि वाल्लभ दर्शन एवं धर्मके उत्कृष्ट और प्रामाणिक ग्रन्थोंके इस प्रकारके संस्करण सुलभ कराये जायें जिनसे जिज्ञासुओंको वाल्लभ सिद्धान्तोंके यथार्थ स्वरूपका बोध हो सके। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यने तात्कालिक भारतकी परिस्थितियोंका अध्ययन कर यह निष्कर्ष निकाला था कि पारम्परिक कर्म, ज्ञान और भक्ति के मार्ग अब दुःसाध्य हो गये हैं और इसीलिए उन्होंने लोगोंके कल्याणके लिए पुष्टिमार्गका प्रवर्तन किया था। तबसे लेकर आज तक कोटि-कोटि भारतवासी उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्गपर चल कर अपने जीवनमें शान्ति और सुख का अनुभव करते आये हैं। आजका अशान्त, नीरस, कुण्ठाग्रस्त और कान्दिशीक मानव जीवनको शान्तिमय, सुखमय, सरस और सार्थक बनानेके इस साधनसे सुपरिचित हो सके इस लक्ष्यकी सिद्धिके लिए भी शुद्धाद्वैत वेदान्त और पुष्टिमार्ग की प्रमुख कृतियोंके युगानुरूप आधुनिक संस्करणों की आवश्यकता है, यह अनुभव कर श्रीवल्लभाचार्य, श्रीविट्ठलनाथ तथा उनके अनुयायियोंके मुख्य-मुख्य ग्रन्थोंको प्रामाणिक, सरल और सुबोध हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या तथा गवेषणापूर्ण भूमिकाओं सहित प्रकाशित करनेके उद्देश्यसे '**श्रीवाल्लभग्रन्थमाला**' का प्रारम्भ किया गया है। इस ग्रन्थमालाके सम्बन्धमें अधिक जानकारी इसी ग्रन्थके अन्तमें दी गयी है जहाँ

इस योजनाके नियमोंके साथ ही इसमें प्रकाशित तथा निकट भविष्यमें प्रकाशित किये जानेवाले ग्रन्थोंकी सूची भी दी गयी है।

श्रीवाल्लभग्रन्थमालाके प्रकाशनकी प्रेरणा गुरुवर गोस्वामिश्रीदीक्षितजी महाराजने दी थी। उनके आशीर्वाद, उनके ज्येष्ठ आत्मज विद्वद्रत्न गोस्वामिश्रीश्याममनोहरजी (गो० श्याम) के सर्वविध साहाय्य तथा 'श्रीवल्लभ विद्यापीठ एवं श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण मिशन आश्रम ट्रस्ट' के सदस्योंके सक्रिय और सार्थक सहयोग से इस ग्रन्थमालाके प्रथम तथा चतुर्थ पुष्प प्रकाशित हो चुके हैं और अब यह द्वितीय पुष्प प्रकाशित हो रहा है। उन्होंने इस पुष्पको अपनी प्रिय दुहिता नित्यलीलास्थ श्रीशशिकलाबेटीजी की पुण्यस्मृतिमें प्रकाशित करनेकी इच्छा व्यक्त की थी। हमें इसका अत्यधिक दुःख है कि दैवदुर्विपाकसे हम इसे उनके जीवनकालमें नहीं प्रकाशित कर पाये। आज श्रद्धाभिभूत हृदयसे उनका स्मरण करते हुए इसका प्रकाशन कर हम अपनी श्रद्धापुष्पाञ्जलि उन्हें समर्पित करते हैं।

इस ग्रन्थके प्रकाशनका सारा श्रेय हमारे अजस्र प्रेरणास्रोत तथा मार्गनिर्देशक गोस्वामी श्रीश्याममनोहरजी को है। उन्होंने अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण कार्योंमें अत्यधिक व्यापृत रहते हुए भी हमारे अनुरोधपर 'शुभाशंसा' प्रदान कर हमें अनुगृहीत किया है। उनका प्रसाद पाकर हम अपनेको धन्य समझते हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालयमें तुलनात्मक-धर्मके मालवीय प्रोफ़ेसर और दर्शन-विभागके अध्यक्ष गुरुवर डॉ० रामशंकर मिश्र के आशीर्वाद, मार्गनिर्देशन एवं प्रोत्साहन के बलपर ही हम इस कार्यको सफलतापूर्वक सम्पन्न कर सके हैं। उन्होंने हमारे आग्रहपर इस ग्रन्थका 'आमुख' लिख कर इस प्रकाशनका गौरव बढ़ाया है। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करनेमें हमें सभी शब्द हृद्गत भावोंको अभिव्यक्त करनेमे अशक्त लगते हैं।

गोस्वामिश्रीदीक्षितजीमहाराजके कृपापात्र वैष्णव श्रीहंसराज गोकुलदास वेद एवं श्रीरतिलाल करसनजी शाह आदिके स्नेह और साहाय्यके बलपर ही हम इस मार्गमें इतनी दूरी तय कर सके हैं। एतदर्थ हम उनका उपकारस्मरण करते हुए उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं। ग्रन्थके आवरकपत्रकी डिज़ाइनके लिए हम श्रीनन्दकिशोर मित्तल, श्रीअशोक शाहाणे तथा श्रीबाल ठाकुरके आभारी हैं।

जिन महानुभावोंने श्रीवाल्लभग्रन्थमाला-योजना का सदस्य बन कर वाल्लभ दर्शन एवं धर्म से सम्बद्ध ग्रंथोंके प्रकाशनके लिए हमें प्रोत्साहित किया है उनके प्रति हम हार्दिक आभार प्रकट करते हैं। योजनाके विशिष्ट सदस्योंका नाम और पता प्रस्तुत प्रकाशनके अन्तमें प्रकाशित किया जा रहा है।

मेरी धर्मपत्नी श्रीमती स्नेहलता मिश्रा एम्० ए० ने गृहस्थीकी सारी झंझटोंको स्वयं झेलते हुए भी इस कार्यमें सक्रिय सहयोग देकर इसे सम्पन्न कराया है, एतदर्थ वे धन्यवादकी पात्र हैं।

'मानुष्यमस्खलितवृत्ति न लभ्यते, चेत्
लभ्येत, कस्तदिह जीवपरात्मभेदः ?
तस्माद् गुणप्रणयिनः सुधियः क्षमन्ताम्,
ग्रन्थे ममापि यदि केचन सन्तु दोषाः ॥'

दर्शन-विभाग, कला संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
श्रीविट्ठलेशजयन्ती
श्रीवल्लभाब्द ५०० (सन् १९७८ ई०)

विदुषामाश्रवः
केदारनाथ मिश्रः

भूमिका

भक्तिहेतुनिर्णय शुद्धाद्वैत वेदान्तके प्रतिष्ठापक और पुष्टिमार्गके प्रवर्तक महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्यके द्वितीयपुत्र गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथकी कृति है। गोस्वामि-श्रीविट्ठलनाथ और उनकी कृतियों का महत्त्व वल्लभसम्प्रदायमें श्रीवल्लभाचार्य और उनकी कृतियों के ही बराबर है। परम्परा श्रीवल्लभाचार्य और श्रीविट्ठलनाथ दोनोंको ही पुष्टिमार्गका मूल आचार्य[१] मानती आयी है और आज भी वाल्लभ विद्वान् यही मानते हैं कि 'शुद्धाद्वैत दर्शनके दो मूल आचार्य हैं श्रीवल्लभाचार्य और श्रीविट्ठलनाथजी[२]।' पुष्टिमार्गका प्रवर्तन श्रीवल्लभाचार्यने किया और उसका विकास, विस्तार एवं प्रचार श्रीविट्ठलनाथने[३]।

दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता में नागजी भट्ट,[४] मानिकचन्द[५] और बीरबलकी बेटी[६] आदिकी वार्ताओंमें स्पष्टरूपसे गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथको साक्षात् पूर्णपुरुषोत्तम, आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि[७] कहा गया है और भावप्रकाशमें उन्हें कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ[८] बताते हुए उनके पूर्ण पुरुषोत्तम होनेका अनेकशः उल्लेख किया गया है। इसी कृतिमें कृष्णदासको गो० श्रीविट्ठलनाथके रोम-रोममें भगवान् श्रीनवनीतप्रियके दर्शन होने,[९] बीरबल एवं टोडरमल के श्रीविट्ठलनाथको सम्मान्य मानकर समादृत करने[१०] तथा सम्राट् अकबर द्वारा बीरबलको यह समझानेका उल्लेख है[११] कि 'दीक्षितजी तो साक्षात् ईश्वर हैं यामें कछू सन्देह नाहीं[१२]।' श्रीविट्ठलनाथके भगवान् श्रीनाथजीसे वार्तालाप करने और अपने भक्तों—कृष्णभट्ट, कुनबी, अलीखान पठान एवं उनकी पुत्री पीरजादी आदि--को भगवान्का दर्शन करा देनेके उल्लेखोंसे दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता भरी पड़ी है। भगवान् श्रीरणछोड़ और गो० श्रीविट्ठलनाथ के परस्पर ताम्बूलसमर्पण[१३], भगवान् श्रीनवनीतप्रिय तथा गो० श्रीविट्ठलनाथ के एक दूसरेको झूला झुलाने[१४] तथा भगवान् और गो० श्रीविट्ठलनाथ

---

१. 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) इत्यारभ्य भाष्यकर्तृत्वेन आचार्यत्वम्, अतएव अस्मिन् मार्गे आचार्यद्वयम्। (श्रीद्वारकेशकृता सिद्धान्तमुक्तावलीटिप्पणी, पृष्ठ २)।
आचार्यरत्नं सर्वानुग्रहकृन्मन्त्रवित्तमः। (नामरत्नाख्यस्तोत्रम् २३)।

२. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थस्वरूप, पृष्ठ ११०.

३. पितृप्रवर्तितपथप्रचारसुविचारकः। (नामरत्नाख्यस्तोत्रम् १२)।
'पुष्टिमार्गके विस्तार करनहारे आप ही हैं।' (दो० वार्ता, भावप्रकाश, खण्ड १, पृष्ठ ५)।

४. दो० वार्ता, खण्ड १, पृष्ठ ३-४. ५. वही, पृष्ठ १६३. ६. वही, पृष्ठ ५१८.
७. वही, पृष्ठ १६१. ८. वही, पृष्ठ ३४. ९. वही, खण्ड ३ पृष्ठ २३७.
१०. वही खण्ड १, पृष्ठ १५२, २०१-८. ११. वही, खण्ड ३ पृष्ठ २९३ ५.
१२. वही, खण्ड ३ पृष्ठ २९५. १३. वही, खण्ड १ पृष्ठ १७. १४. वही, खण्ड ३ पृष्ठ २३७.

के एक दूसरेको माल्यार्पण करने[1] आदिका उल्लेख साम्प्रदायिक साहित्यमें अत्यन्त स्वाभाविक मान कर किया गया है। इन सब उल्लेखोंसे यह सूचित होता है कि साम्प्रदायिक परम्पराकी दृष्टिसे श्रीविट्ठलनाथ और उनकी कृतियों का कितना अधिक महत्त्व है।

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य एवं श्रीमती महालक्ष्मी[2] के द्वितीय आत्मज श्रीविट्ठलनाथका जन्म शुक्रवार पौषकृष्णनवमी[3] विक्रमसंवत् १५७२ (ईस्वी सन् १५१५) के दिन[4] आधुनिक उत्तरप्रदेशके मिर्जापुर ज़िलेके अन्तर्गत चुनार (चरणाद्रि) में हुआ था।

उनका बचपन त्रिवेणीसंगमके पास स्थित अड़ेल ग्राममें—जहाँ रहकर महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य अपनी सुबोधिनीटीका लिख रहे थे—बीता। आचार्यचरणने 'अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीत तमध्यापयीत' की वैदिक विधिके अनुरूप आठवें वर्षमें (वि० सं० १५८० में) उनका उपनयन संस्कार सम्पन्न कराया। कहते हैं कि महाप्रभुने उन्हें अध्ययनके लिए प्रयागके पण्डित माधव सरस्वतीके पास भेजा था पर वे अपना अधिकांश समय श्रीमद्भागवतके अध्ययनमें ही व्यतीत करते थे। वे एक तेजस्वी विद्यार्थी थे। प्रसिद्ध है कि उन्होंने दस वर्षकी वयमें ही 'व्रजराजविराजितघोषवरे' इत्यादि पद्य (राजभोगारार्तिकार्या) की रचना कर अपने पिताको सुनाया था और उनका आशीर्वाद प्राप्त किया था। उनकी संगीतमें भी बहुत रुचि थी। महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यके त्रिदण्ड संन्यास ग्रहण कर इहलोकत्याग करनेके समय (वि० सं० १५८७ में) उनकी वय केवल पन्द्रह वर्षकी थी और उनके अग्रज श्रीगोपीनाथ उनसे केवल पाँच वर्ष बड़े थे। बादमें वे अपने बड़े भाईके संरक्षकत्वमें कुछ दिन अड़ेलमें रहे किन्तु यह कह सकना कठिन है कि उनके शैक्षणिक जीवनमें श्रीगोपीनाथका कितना योगदान रहा होगा। वार्ता-साहित्यसे तो यही प्रतीत होता है कि कुल मिलाकर श्रीविट्ठलनाथके

---

१. विविध कुसुमावली ग्रथित हाथे करी, एक-एकने कण्ठे आरोपे हार ॥ (वल्लभाख्यान ७।१२)।

२. महालक्ष्मीगर्भरत्नम्। (नामरत्नाख्यस्तोत्रम्, ९)।

३. वंशावली पृष्ठ ३३ तथा २०५ के अनुसार गुजराती मार्गशीर्षकृष्ण नवमी।

४. वर्षे नेत्राश्वभूतद्विजपतिगणिते पौषकृष्णे नवम्याम्;
हस्तर्क्षे तैतिलेऽह्न्यधिकृतभृगुजे शोभने गोविलग्ने।
रन्ध्रस्थेऽर्के सचान्द्रे, कवि-कुज-शनिषु च नगेष्वात्मजस्थे;
सोमे, जीवे धनस्थे, तमसि सहजगे, विट्ठलः प्रादुरासीत् ॥
शुक्रार्किषु सप्तमेषु, धनगे जीवे च कर्के तम-
स्यर्के धन्विनि चान्द्रिणा सह सहस्याशुक्लपक्षे वृषे।
अब्दे नेत्रमुनीषुचन्द्रगणिते हस्ते नवम्यां भृगौ;
विश्वोद्धारकृते स्फुटोऽभवदिह श्रीविट्ठलेशो हरिः ॥ (बृ० स० पृष्ठ २२६-७)।

प्रथमाश्रमका बहुत समय 'हँसत, खेलत, मसकरी करत बह्नोत ही प्रसन्नतामें[१]', निर्द्वन्द्व मनःस्थिति में बीता।

महाप्रभुके अनन्य सेवक श्रीदामोदरदास हरसानीने उनके जीवनमें महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। आचार्यचरणके निरन्तर सान्निध्यका सौभाग्य और उनके सिद्धान्तोंका परिचय जितना दामोदरदासको प्राप्त था उतना किसी अन्यको नहीं। वार्ताके अनुसार 'श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप दामोदरदासकों दमला कहते और कहते जो दमला ! यह मार्ग तेरे लिए प्रगट कियो है[२]। श्रीआचार्यजीने श्रीठाकुरजी-की पास तीन बार यह माँग्यो जो मेरे आगे दामोदरदासकी देह न छूटे। ताको हेतु यह है जो श्रीआचार्यजी महाप्रभु आप संन्यास ग्रहण करिवेको बिचार मनमें करे। ता समे श्रीगोपीनाथजी तथा श्रीगुसांईजी दोऊ बालक हते। तातें मारगकी वार्ता श्रीआचार्यजी महाप्रभु दामोदरदासकों समझाइकै थापी। दामोदरदाससों कछु गोप्य न राख्यो।...मारगको सब सिद्धान्त, भगवल्लीला रहस्य श्रीआचार्यजीने दामोदरदासके हृदयविषे स्थाप्यो[३]।' श्रीहरिरायजीके शब्दोंमें 'श्रीआचार्यजी महा-प्रभुनने श्रीगोपीनाथजी श्रीगुसांईजीको मार्गकी सिक्षा देवेंको अपनी पाछें दामोदरदास हरसानीको राखें हे[४]।' महाप्रभु द्वारा निर्दिष्ट दायित्वका निर्वाह करते हुए दामोदर-दासने श्रीविट्ठलनाथसे कहा था, 'महाराज ! अपनो मारग निश्चिन्तताको नाहीं[५]।' और श्रीविट्ठलनाथजी चेत गये थे। उनका उत्तर था, 'हमकों यह वार्ता श्रीआचार्य-जी महाप्रभु तुम द्वारा कहे। जो तुम न कहोगे तो और कौन कहेगो[६] ?' उन्होंने प्रसन्न होकर उनकी शिक्षा मान ली थी[७] और आचार्यत्वके दायित्वको सँभालनेकी तैयारी शुरू कर दी थी। उनके 'हम तो कछु जानत नाहीं[८]' कह कर श्रीवल्लभाचार्य-प्रकटित मार्गकी प्रणालीकी जिज्ञासा करनेपर उनकी पूजनीया माता (अक्काजी) ने उनसे कहा था कि महाप्रभुने 'मार्ग तथा उत्सव को प्रकार सब दामोदरदाससों कह्यो है, सो उनसों तुम पूछो, तुमसों दामोदरदास सब कहेंगे[९]।' श्रीविट्ठलनाथजीने दामोदरदासजीके घर जाकर उनसे सब पूछा-समझा था[१०]। वार्ताके अनुसार जब श्रीविट्ठलनाथने पिताका श्राद्ध करवाया था तो दामोदरदासने उन्हें दक्षिणामें महाप्रभुकृत सिद्धान्त-रहस्य की व्याख्या सुनायी थी[११]। 'पाछें दामोदरदासने मारग-की प्रणालिका कही। श्रीभागवतकी टीका श्रीसुबोधिनीजी, श्रीआचार्यजी महाप्रभुनके ग्रन्थनकी टीका और रहस्यवार्ता श्रीगुसाइंजीके आगे सब कहें[१२]।' 'और ता पाछे

---

१. चौरासी वैष्णवनकी वार्ता १, प्रसङ्ग ४, पृष्ठ १७. २. चौ० वार्ता १।१ पृष्ठ १०. ३. वही १।२ पृष्ठ १४. ४. दो० वार्ता ३।१ भावप्रकाश, खण्ड १ पृष्ठ ६४. ५. चौ० वार्ता १।४ पृष्ठ १८. ६. वहीं। ७. वहीं। ८. वही १।२ पृष्ठ १४. ९. वहीं। १०. वही, १।२ पृष्ठ १५. ११. वही, १।५ पृष्ठ १९. १२. वहीं।

दामोदरदासकी सहायतासों आपने श्रृङ्गाररसमण्डन ग्रन्थ कियो[१] ।' स्पष्ट है कि स्वमार्गीय सिद्धान्तों एवं रीतियों को आत्मसात् करनेमें उन्हें दामोदरदाससे बहुत सहायता मिली थी और इस दृष्टिसे दामोदरदासका उनके जीवनमें और सम्प्रदायमें बहुत महत्त्व है।

श्रीविट्ठलनाथकी अभिरुचि बचपनसे ही रागभोगश्रृङ्गारपूर्ण भगवत्सेवामें थी और उन्होंने आचार्यासनपर बैठनेपर सम्प्रदायकी सेवाप्रणालीको विकसित किया। उन्होंने श्रीनाथजीके आठ मुख्य श्रृङ्गारोंका प्रचलन किया तथा संगीत, चित्रकला, पाककला एवं अन्य विविध कलाओंका भगवत्सेवामें उपयुक्त विनियोग कर भगवद्भक्तोंको जीवनको भगवन्मय कर लेनेकी प्रणाली बतायी। सम्प्रदायमें दीक्षित पञ्चद्राविड ब्राह्मणोंको श्रीनाथजीकी अन्तरंग सेवामें अधिकृत कर, अन्य पुष्टिमार्गीय वैष्णवोंको विविध सेवाओंमें नियुक्त कर एवं शाकघर, खासा भण्डार, दूधघर, पानघर, फूलघर आदिको व्यवस्थित कर उन्होंने सेवामर्यादाको एक निश्चित दिशा प्रदान की। श्रीवल्लभाचार्यके चार और अपने चार सेवकोंको अष्टछापके रूपमें संगठित कर, उन्हें अष्टयामसेवामें विनियुक्त कर, सेवाको अधिक भावमय तथा अनुभूतिप्रवण बनानेके साथ ही हिन्दीसाहित्यमें कृष्णभक्तिको प्रतिष्ठित करने एवं तेलुगुभाषी होते हुए भी कृष्णभूमिकी ब्रजभाषाको 'पुरुषोत्तमभाषा' कहकर प्रतिष्ठित एवं समृद्ध करने में उन्होंने महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

वे अपने पिताकी ही भाँति सच्चे अर्थोंमें जगद्गुरु अर्थात् गतिशील गुरु थे और उन्होंने अनेक यात्राएँ कर भगवदीय जीवोंको पुष्टिमार्गमें दीक्षित कर आध्यात्मिक कल्याणका मार्ग बताया था। पश्चिममें गुजरात, काठियावाड़ एवं द्वारकापुरी तक, पूर्वमें मगध, गौडदेश एवं जगन्नाथपुरी तक तथा उत्तरमें बदरिकाश्रम तक यात्रा कर उन्होंने अपने सम्प्रदायका प्रचार-प्रसार किया था। **दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता** के अनुसार वे प्रतिदिन किसी एक नवीन व्यक्तिको दीक्षा देकर ही अन्न ग्रहण करते थे[२]। गुजरात प्रदेशको वैष्णवधर्मका महत्त्वपूर्ण केन्द्र बना देनेका श्रेय उन्हें ही है। उन्होंने वि० सं० १६०० से १६३८ के बीच छः बार गुजरातकाठियावाड़ क्षेत्रकी यात्रा कर अनेक लोगोंको पुष्टिमार्गकी दीक्षा दी थी। इस कार्यमें उन्हें पटनाके अपने एक क्षत्रिय शिष्य चाचा हरिवंशसे बड़ी सहायता मिली थी। उन्होंने हरिवंशजीको अष्टाक्षरमन्त्रकी दीक्षा देनेका अधिकार दे रखा था और वे वैष्णव बनानेके कार्यमें इतने कुशल थे कि गुजरातके एक ग्राममें पड़ाव डाले श्रीविट्ठलनाथको जब यह पता चला कि इस ग्राममें कोई वैष्णव नहीं है तो उन्होंने कहा था कि 'या मार्ग हरिवंसजी कबहू आए न होइंगे। जो हरिवंसजी या मार्ग कबहू आवते तो कोई एक तो वैष्णव

---

१. चौ० वार्ता १।८, भावप्रकाश पृष्ठ २५.   २. दो० वार्ता १७८।१ पृष्ठ ४०.

होतो[१] ।' श्रीविट्ठलनाथ उन्हें अपने नेत्रोंकी पुतली कहते थे[२] और अपने पुत्रोंके मार्गनिर्देशनका दायित्व उन्हें सौंप गये थे[३] । भावप्रकाशके अनुसार 'चाचाजी… श्रीगोकुलनाथजीसों श्रीघनस्यामजीसों कहे जो बावा ! और वार्ता कहा करत हो, अब अपनी पोथी सम्हारो । सो ए दोऊ भाई चाचा हरिवंसके वचन उपदेस करि मानत भए[४] ।'

सम्राट् अकबरके आमन्त्रणपर श्रीविट्ठलनाथ दो बार (वि० सं० १६३४ एवं १६३८ में) आगरा गये थे । अकबर उनसे काफ़ी प्रभावित हुए थे और उन्होंने उन्हें न्यायाधीशके अधिकार, गोस्वामी (गुसाईं) की उपाधि तथा जतीपुराकी गोचर-भूमि दे रखी थी । वे कई बार श्रीविट्ठलनाथसे मिलने गोकुल भी आये थे । सम्राट्के परिकरोंमें ताजबीबी, रायपुरुषोत्तमदास, राजा बीरबल और टोडरमल, तानसेन तथा बीरबलकी पुत्री शोभावती को साम्प्रदायिक साहित्यमें श्रीविट्ठलनाथका सेवक अर्थात् शिष्य बताया गया है ।

वार्ता साहित्यमें उनकी अगाध धर्मनिष्ठा, भगवत्प्रेम, सर्वात्मभाव, सदाशयता, उदारता, परोपकारपरायणता, दयालुता, त्याग, संयम और भक्तिभावप्रवणता की निदर्शक अनेक कथाएँ मिलती हैं । उन्होंने भगवद्भक्तिके द्वार सभीके लिए खोल दिए थे । श्रीगोकुलनाथजी द्वारा दिये गये विवरणके अनुसार उन्होंने रसखान[५] और अलीखान[६] के समान पठानों, अलीखानकी पुत्री पीरजादी[७] तथा अन्य पठानवंशजों[८] एवं धोंधी[९] आदि अन्य मुसलमानों को भी भगवन्नामकी दीक्षा देकर कृष्णभक्त बना दिया था । नाई,[१०] कुँजड़िन,[११] मोची,[१२] धीवर,[१३] व्याध (पारधी)[१४], भीलों[१५] और वेश्यापुत्री[१६] को भी वैष्णवधर्ममें दीक्षित कर उन्होंने सर्वोद्धारार्थ प्रयत्नशील धर्माचार्यकी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी । उनकी प्रेरणासे अनेक ठग[१७], चोर[१८] और बटमार[१९] भी दुष्कर्म छोड़कर भगवद्भक्त बन गये थे । इसीलिए उन्हें महापतित-पावनः (नामरत्नाख्यस्तोत्रम् १७) कहा गया है ।

---

१. दो० वार्ता ३।४ खण्ड १, पृष्ठ ८७.
२. दो० वार्ता ३।१० खण्ड १, पृष्ठ ९२.
३. 'श्रीगुसाईंजीने सात बालकनको मार्गको रहस्य समझाइबेके तांई चाचाजीकों भूतलपर राखे।' (दो० वार्ता ३।१ खण्ड १, भावप्रकाश पृष्ठ ६४)।
४. दो० वार्ता ३।१४ खण्ड १, भावप्रकाश पृष्ठ ९६-९७.
५. वही २४३।२ खण्ड ३ पृष्ठ ३०३.
६. वही ३७।२ खण्ड १ पृष्ठ ३०८.
७. वहीं ।
८. वही १४७।१ खण्ड २ पृष्ठ ३११.
९. वहीं २४३।१ खण्ड ३ पृष्ठ २८४.
१०. वही १४६।१ खण्ड २ पृष्ठ ३१०.
११. वही ६९।१ खण्ड १ पृष्ठ ४८०.
१२. वही १२४।१ खण्ड २ पृष्ठ २०६.
१३. वही १३६।१ खण्ड २ पृष्ठ २५४.
१४. वही १८९।१ खण्ड २ पृष्ठ ७९.
१५. वही १२०।१ खण्ड २ पृष्ठ १७९.
१६. वही ७३।१ खण्ड १ पृष्ठ ५०१.
१७. वही १९६।१ खण्ड ३ पृष्ठ १००.
१८. वही ११२।१ खण्ड २ पृष्ठ १५३.
१९. वही २००।१ खण्ड ३ पृष्ठ १११.

श्रीविट्ठलनाथने वि० सं० १६१६ में जगन्नाथपुरीकी यात्रा की थी और वहाँ वे महाप्रभु चैतन्यके साक्षात् शिष्योंके सम्पर्कमें आये थे। उन्होंने श्रीजगन्नाथजीकी सेवा-प्रणाली तथा श्रीचैतन्यके कीर्तन-प्रकार को हृदयङ्गम किया था। स्वाभाविक है कि स्वमार्गीय सेवाप्रणालीका विस्तार करते समय उन्होंने अपने इन अनुभवोंका उपयोग किया होगा। पुरीयात्रामें वे अपने साथ रासा नामके एक बढ़ईको भी ले गये थे जिससे उन्होंने वहाँसे लौटनेपर जगन्नाथजीके रथके अनुरूप रथ बनवाकर अड़ेलमें और बादमें गढ़ामें भी रथयात्रोत्सव किये थे। बहुत सम्भव है कि चैतन्यानुयायियोंके इस सम्पर्कके समय ही उन्होंने राधाभावप्रधान स्वामिन्यष्टक, स्वामिनीस्तोत्र एवं श्रीकृष्णप्रेमामृतम्—जिसे चैतन्यकी कृति माना जाता है—की विवरणनामक व्याख्याकी रचना की हो।

श्रीविट्ठलनाथका विवाह सत्रह वर्षकी वयमें वि० सं० १५८९ में काशीके श्रीविश्वनाथ भट्ट एवं श्रीमती भवानी की दुहिता कुमारी रुक्मिणीसे हुआ था। वे वि० सं० १६१९ तक अड़ेलमें ही रहे, यद्यपि इस बीच उन्होंने अनेक यात्राओंमें काफ़ी समय प्रवासमें बिताया। वि० सं० १६१९ में उन्होंने अड़ेल छोड़ दिया और कुछ दिन विभिन्न स्थानोंपर रहनेके बाद अपनी शिष्या सेविका रानी दुर्गावतीके अनुरोधपर मध्यप्रदेशके गढ़ा नामक स्थानपर जा बसे। यहीं श्रीमती रुक्मिणीका देहावसान हो जानेपर रानी दुर्गावतीके आग्रहसे वि० सं० १६२० की अक्षयतृतीयाको उन्होंने श्रीकृष्णराय भट्टकी दुहिता कुमारी पद्मावतीसे (दूसरा) विवाह किया। प्रायः तीन वर्ष वहाँ रहनेके बाद वे कुछ दिन प्रयाग एवं गोकुल में रहकर मथुरामें सतघरामें—जिसका निर्माण उनके निवासके लिए रानी दुर्गावतीने करा दिया था—आ गये। छः वर्ष वहाँ रहनेके बाद उन्होंने वि० सं० १६२८ के फाल्गुनमासमें गोकुल—जिसे बादमें वि० सं० १६३४ में अकबरने उन्हें एक शाही फ़रमान जारी कर दे दिया था—को अपना स्थायी निवास बनाया और अन्त तक वहीं रहे। उनके प्रथम पत्नीसे शोभा, यमुना, कमला और देवका नामकी चार पुत्रियाँ एवं गिरिधर, गोविन्द राय, बालकृष्ण, गोकुलनाथ, रघुनाथ तथा यदुनाथ नामक छः पुत्र थे। द्वितीय पत्नीकी एकमात्र सन्तान उनके कनिष्ठ पुत्र घनश्याम थे। इन सातों पुत्रोंके घर ही सम्प्रदायमें सात गादीके रूपमें प्रसिद्ध हैं। उन्होंने सातों पुत्रोंको एक-एक सेव्यस्वरूप दिया था और ज्येष्ठ पुत्र श्रीगिरिधरको श्रीनाथजीका स्वरूप देकर सभी पुत्रोंको उनकी सेवामें अधिकृत किया था। पूर्वोक्त सात स्वरूप सम्प्रदायमें सात निधिके रूपमें प्रतिष्ठित हैं। दीर्घकालतक भावुक भक्तोंको भक्तिरसमें अवगाहन कराकर सत्तर वर्षसे कुछ अधिक वयमें[1] उन्होंने माघकृष्ण षष्ठी[2] वि० सं० १६४२ में अपनी जीवनलीला समाप्त की।

---

१. सप्ततिः किल वर्षाणि दिनान्यष्टौ च विंशतिम्। वसुधायां व्यराजन्त श्रीमद्विट्ठलदीक्षिताः॥
२. द्रष्टव्य गो० श्रीवि० पृष्ठ ११-१२.

श्रीविट्ठलनाथने अपने पिताके महान् कार्यको आगे बढ़ानेके उत्तरदायित्वका निर्वाह बड़ी योग्यताके साथ किया। उन्होंने उनके अधूरे ग्रन्थोंको पूरा करनेकी ओर भी ध्यान दिया और अणुभाष्यको पूरा किया। इसीलिए कहीं-कहीं अणुभाष्यके ब्रह्मसूत्र ३।२।३३ परके बादके अंशको श्रीविट्ठलनाथकी **अणुभाष्यशेष**[1] या **अणुभाष्यपूर्ति** नामक कृति—जिसे डॉ० दासगुप्त भ्रमवश अणुभाष्यकी टीका या व्याख्या बताते हैं[2]—कहा गया है। इसकी पुष्टिके लिए अधोलिखित प्रमाण दिये जा सकते हैं।

श्रीकृष्णचन्द्रकी ब्रह्मसूत्रभावप्रकाशिकावृत्तिके **'इत आरभ्य प्रभूणां लेख इति प्रतिभाति'** (भावप्र० ३।२।३४) इस वाक्यके अनुसार अणुभाष्यका ३।२।३४ से लेकर अन्त तकका अंश श्रीविट्ठलनाथकी कृति है। अपने गुरुका अनुसरण करते हुए पूर्वोल्लिखित **'स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्'** (ब्रह्मसूत्र ३।२।३४) इस सूत्रके अणुभाष्यकी प्रकाशव्याख्यामें श्रीपुरुषोत्तम लिखते हैं **'इत आरभ्य प्रभूणामिति प्रतिभाति'** अर्थात् श्रीपुरुषोत्तमके अनुसार भी इस सूत्रके भाष्यसे लेकर अन्तिम सूत्र तकके भाष्यके लेखक गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथ ही हैं। श्रीपुरुषोत्तमके इस वाक्यकी व्याख्या रश्मिकार श्रीगोपेश्वर अधोलिखित प्रकारसे करते हैं—

प्रभ्वाज्ञात्रयभाविनीं गतिमिहोद्भाव्याशु तत्त्वानुगः,
सार्धाध्याययुगं चकार रहितं[3] स्वाचार्यवर्यः स्वयम्।
शेषं सूचितमित्यतोऽन्यदपि निर्मातुं प्रवृत्तस्ततः,
तन्न्यूनप्रतिपूरको विजयते श्रीविट्ठलो दीक्षितः॥

इत्थं च अनवगाह्याभिप्रायाणां सूत्राणां भाष्यमुक्त्वा सुगमानां स्थापितवन्तः। तदेतत्पूरयितुं श्रीविट्ठलदीक्षिताः 'स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३४) **इति सूत्रादारभ्य भाष्यमारभन्त इत्याहुः 'इत आरभ्य' इत्यादि। श्रीप्रभूणां गोस्वामिनाम्। प्रतिभाति इति। समाप्तौ 'श्रीवल्लभदीक्षितविरचित' इति शब्दात्।** (भाष्य-प्रकाशरश्मि ३।२।३४)।

अणुभाष्यके अन्तिम श्लोककी व्याख्या करते हुए श्रीपुरुषोत्तम पुनः कहते हैं, **'गुणोपसंहारपादमारभ्य सार्धाध्यायस्य स्वयंकरणात् तदाचार्येषु निवेदयन्तः समाप्तौ मङ्गलं कर्तव्यमिति शिष्टाचारं च शिक्षयन्त आचार्याणां प्रसादमाशासते 'भाष्य' इत्यादि। अर्थस्तु श्लोकानां स्फुट इति शुभम्।'**

---

१. द्रष्टव्य, गो० श्रीवि०, पृष्ठ ८.

२. "His other works were......Aṇubhāṣyapūrtti (a commentary on the Aṇu-bhāṣya)." A History of Ind. Phil. Vol. IV., P. 379.

३. सूत्राष्टकं (ब्रह्मसूत्र ३।२।३४-४१) रहितम्।

प्रकाशके उपर्युक्त अन्तिम वाक्यमें आये 'स्फुटः' इस पदकी व्याख्या करते हुए श्रीगोपेश्वर लिखते हैं, "स्फुट इति 'श्रीमदाचार्य'— इति। श्रीमन्त आचार्याः श्रीमदाचार्याः व्यासचरणाः, आचार्यभाष्यपक्षे। श्रीमद्गोस्वामिभाष्यपक्षे श्रीमदाचार्याः श्रीवल्लभाचार्या इति सर्वं शुभम्।" (भाष्यप्रकाशरश्मि ४।४।२२)।

इसी प्रकार 'स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३४) के अणुभाष्यकी व्याख्या प्रारम्भ करते हुए प्रदीपकार श्रीइच्छाराम लिखते हैं, "इत आरभ्य श्रीमद्गोस्वामिचरणानां लेखो बोध्यः।" (अणु० प्रदीप ३।२।३४ पृष्ठ २६६)। इसी-लिए इसके पूर्ववर्ती 'बुद्ध्यर्थः पादवत्' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३३) इस सूत्रके भाष्यके अन्तिम वाक्यकी अपनी टिप्पणीमें श्रीमग्नलाल शास्त्री स्पष्ट कहते हैं 'अत्र श्रीमदाचार्य-चरणकृतिः समाप्ता।' (प्रदीपसंस्करण, पृष्ठ २६८)।

अणुभाष्यके अन्तिम श्लोक[1] की प्रदीपव्याख्यामें श्रीइच्छाराम लिखते हैं, "ग्रन्थान्ते मङ्गलमाचरन्ति, 'भाष्य' इत्यादिना। तथा च तृतीयाध्यायद्वितीयचरणनव-माधिकरणस्य 'स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत्' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३४) इति सूत्रमारभ्य चतुर्थाध्यायसमाप्तिपर्यन्तं श्रीमद्गोस्वामिनां कृतिरितिं श्रीमदाचार्यचरणार्पणं तस्याः स्वयंकृतत्वमिति बोध्यम्।" (प्रदीप ४।४।२२, पृष्ठ ४२०)।

इस वाक्यमें आये 'कृतत्वम्' पदपर टिप्पणी लिखते हुए श्रीमग्नलालशास्त्री कहते हैं, "भाष्येऽन्तिमश्लोक आचार्यचरणेति पदस्य श्रीमद्वल्लभाधीश्वरपरत्वादेषा सार्धाध्यायभाष्यकृतिः श्रीमत्प्रभुचरणविट्ठलेश्वराख्याग्निकुमाराणामेव न तु श्रीमद्वल्लभा-चार्याणां, श्रीमदाचार्यचरणैः स्वस्य कृतेः स्वपदाम्बुजे निवेदनस्यानुपपन्नत्वात् सूत्रकाराणां श्रीमत्त्वेन श्रीमदाचार्यचरणैः क्वाप्यनुपन्यासाच्चेति प्रदीपकारहृदयम्।" (प्रदीपसंस्करण पृष्ठ ४२०)।

उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि अणुभाष्यके 'स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३४) सूत्रसे प्रारम्भ होने वाले अंशको श्रीविट्ठलनाथकृत माननेमें श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीपुरुषोत्तम, श्रीगोपेश्वर, श्रीइच्छाराम आदि प्राचीन टीकाकारों तथा श्रीमग्नलालशास्त्री आदि आधुनिक विद्वानों में सहमति है। स्वयं अणुभाष्यके उत्तरार्द्धके, 'मन्त्राधिष्ठानरूपाणि तु विभूतिरूपाणि। एतच्च यथा तथा भक्तिहंसे प्रपञ्चितम्' (अणुभाष्य ३।३।३), 'एतच्चोपपादितं पूर्वं विद्वन्मण्डने च' (अणुभाष्य ३।३।५४) तथा 'एतच्च श्रीभागवतदशमस्कन्धविवृतौ प्रपञ्चितमस्माभिः' (अणुभाष्य ३।३।२८) इत्यादि वाक्योंसे प्रतीत होता है कि अणुभाष्यका यह अंश भक्तिहंस, विद्वन्मण्डन और दशमस्कन्धसुबोधिनीकी विवृति (टिप्पणी) के लेखक श्रीविट्ठलनाथकी कृति है। इस सम्बन्धमें श्रीद्वारकेशके "यद्वा 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८)

---

१. भाष्यपुष्पाञ्जलिः श्रीमदाचार्यचरणाम्बुजे। निवेदितस्तेन तुष्टा भवन्तु मयि ते सदा॥

इत्यारभ्यं भाष्यकर्तृत्वेनाचार्यत्वम्, अत एव अस्मिन् मार्गे आचार्यद्वयम्'' (सिद्धान्तमुक्तावलीटिप्पणी, पृष्ठ २) इत्यादि कथनसे ज्ञात होता है कि उनके अनुसार श्रीविट्ठलनाथकृत अणुभाष्यका प्रारम्भ 'स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत्' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३४) सूत्रसे नहीं प्रत्युत 'फलमत उपपत्तेः' (ब्रह्मसूत्र ३।२।३८) सूत्रसे होता है।

अणुभाष्यके इस श्रीविट्ठलनाथकृत अंशके 'एतद्यथा तथानन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितमस्माभिः' (अणुभाष्य ३।१।४७) तथा 'एतच्चोपपादितं पूर्वं विद्वन्मण्डने च' (अणुभाष्य ३।३।५४) इत्यादि वाक्योंसे ज्ञात होता है कि अणुभाष्यको पूरा करनेके साथ ही श्रीविट्ठलनाथने उसके श्रीवल्लभाचार्यकृत अंशमें भी कहीं-कहीं कुछ अनुच्छेद अपनी ओरसे जोड़े हैं। उदाहरणार्थं श्रीकृष्णचन्द्र, श्रीपुरुषोतम और श्रीगोपेश्वर के अनुसार 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' (ब्रह्मसूत्र १।१।११) सूत्रके अणुभाष्यका 'अथवा' से प्रारम्भ कर अन्त तकका (भाष्यप्रकाशरश्मिसंस्करणमें पृष्ठ २६८-३०२ पर मुद्रित) अंश श्रीविट्ठलनाथकृत है। श्रीकृष्णचन्द्र अपनी वृत्तिमें लिखते हैं, 'इत्याचार्याणामाशयः। प्रभुचरणास्तु·······तेभ्यो भेदं वर्णकान्तरेण साधयन्ति।' (भावप्रकाशिकावृत्ति १।१।११ पृष्ठ २३)। इस द्वितीय वर्णकके श्रीविट्ठलनाथकृत होनेके श्रीकृष्णचन्द्रके मतकी पुष्टि स्वयं अणुभाष्यकार श्रीविट्ठलनाथके 'एतद्यथा तथाऽऽनन्दमयाधिकरणे प्रपञ्चितमस्माभिः' (अणुभाष्य ३।३।४७) इत्यादि वाक्यसे होती है। श्रीपुरुषोत्तमके 'साम्प्रतं तु प्रभुचरणैः ···· साध्यते' (अणुभाष्यप्रकाशः १।१।११ पृष्ठ २६८) इत्यादि वाक्य तथा इसकी श्रीगोपेश्वरकृत व्याख्याके 'प्रभुचरणैः इति श्रीमद्विट्ठलेश्वरदीक्षितैरित्यर्थः।' (अणुभाष्यप्रकाशरश्मि, पृष्ठ २६८) इत्यादि वाक्य एवं श्रीपुरुषोत्तमके 'एवमस्मिन् वर्णके ···प्रभुचरणैर्व्यवस्थापितम्' (अणुभाष्यप्रकाशः १।१।११ पृष्ठ ३०२) इत्यादि वाक्य तथा इसकी श्रीगोपेश्वरकृत व्याख्याके 'अग्र आचार्याणां ग्रन्थ इति सूचयन्ति' (अणुभाष्यप्रकाशरश्मि, पृष्ठ ३०२) इत्यादि वाक्योंसे यह बात और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

इसी प्रकार श्रीवल्लभाचार्यकृत तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणकी स्वोपज्ञ प्रकाश व्याख्यामें भी श्रीविट्ठलनाथने कुछ अनुच्छेद जोड़े हैं। उदाहरणार्थ तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (शास्त्रार्थप्रकरण) के (मेरे द्वारा सम्पादित संस्करणके), पृष्ठ २३६ से २४४ तकका प्रकाशका अंश श्रीविट्ठलनाथकृत है। इसकी पुष्टि पचहत्तरवीं कारिकाके प्रकाशके पूर्वोक्त अंशकी श्रीपुरुषोत्तमकृत आवरणभङ्ग टीकाके "अत्रैवपदेन या प्रतीतिराचार्यैः सङ्गृहीता तामेव स्फुटीकर्तुं प्रभुचरणाः प्रकारान्तरेण कारिकां व्याकुर्वन्ति 'यद्वा' इत्यादि" वाक्य तथा श्रीबालकृष्णभट्टकृत योजना टीकाके 'एवं सम्यग्विमर्शे तु न सिद्धान्तविरोधो न वा श्रीमदाचार्यचरणप्रभुचरणलेखयोः कोऽपि विरोधादिरूपो दोषः प्रतिभातीति।' इत्यादि वाक्यसे होती है। तत्त्वार्थदीपनिबन्धके भागवतार्थ-

प्रकरणकी प्रकाशटीका भी श्रीवल्लभाचार्य पूरी नहीं लिख पाये थे, उसे भी श्रीविट्ठलनाथने (चतुर्थस्कन्धकी तैंतीसवीं कारिकाकी प्रकाशटीकाके बादसे) लिखना प्रारम्भ किया था किन्तु दैवदुर्विपाकसे उसे वे भी पूरी न कर सके और पञ्चम स्कन्धकी १३६ कारिकाओं तक लिखकर ही छोड़ गये। इस प्रकार भागवतार्थ प्रकरणके चतुर्थ स्कन्धकी चौंतीसवीं कारिकासे पञ्चमस्कन्धकी १३६वीं कारिका तककी प्रकाशटीका श्रीवल्लभाचार्यकी कृति न होकर श्रीविट्ठलनाथकी कृति है, इसे हम तत्त्वार्थदीपनिबन्धके अपने उपोद्घातमें प्रमाणित कर चुके हैं।

षोडशग्रन्थ नामसे प्रसिद्ध श्रीवल्लभाचार्यकी सोलह कृतियोंमेंसे कुछपर श्रीविट्ठलनाथकृत टीकाएँ मिलती हैं। उनकी **यमुनाष्टकविवृति, सिद्धान्तमुक्तावली-विवृति** और **नवरत्नप्रकाश** टीकाएँ क्रमशः श्रीबलभद्र शर्मा द्वारा संशोधित एवं शुद्धाद्वैत सिद्धान्त कार्यालय बम्बईसे सन् १९१६ ई० में प्रकाशित **श्रीयमुनाष्टकम्**, श्रीधैर्यलाल सांकलिया द्वारा संशोधित एवं श्री मानिकलाल मेहता द्वारा बम्बईसे वि० सं० १९७८ में प्रकाशित **सिद्धान्तमुक्तावली** तथा श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला और श्रीधैर्यलाल सांकलीया द्वारा संशोधित, श्रीकेशवराम शास्त्री द्वारा पुनः संस्कृत और श्रीपुष्टिमार्गीय पुस्तकालय नडियादसे प्रकाशित **नवरत्नम्** के सन् १९४२ ई० के संस्करणमें मुद्रित रूपसे उपलब्ध हैं। श्रीधीरजलाल सांकलिया और पो० कण्ठमणि शास्त्री यह मानते प्रतीत होते हैं कि श्रीविट्ठलनाथने बालबोधकी विवरण नामसे व्याख्या लिखी थी जो अब उपलब्ध नहीं है[1]। पो० कण्ठमणि शास्त्रीने उनकी अप्रकाशित कृति सिद्धान्तरहस्यविवृतिकी पाण्डुलिपिका उल्लेख किया है[2] किन्तु (परवर्ती पृष्ठ ११८ में ही) श्रीविट्ठलेश्वरकृत सिद्धान्तरहस्यविवृतिको प्रकाशित कृति कहा है। सम्भव है इन विट्ठलेश्वरसे उनका अभिप्राय प्रभुचरणसे भिन्न किसी अन्य विट्ठलेश्वरसे हो। श्रीगोपालनारायण बहुराने जयपुरनरेशके पोथीखानामें श्रीविट्ठलेश्वरकृत **पुष्टिप्रवाहमर्यादाटीका, भक्तिवर्द्धिनीव्याख्या** एवं **अन्तःकरणप्रबोधटीका** की पाण्डुलिपियोंके होनेका उल्लेख किया है[3]। श्रीदासगुप्तके अनुसार **षोडशग्रन्थके** अन्तर्गत आनेवाली अन्य कृतियोंमेंसे **पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, विवेकधैर्याश्रय** तथा **जलभेद** पर भी श्रीविट्ठलनाथकृत टीकाएँ हैं। **श्रीविट्ठलेशचरितामृत** (पृष्ठ ५०) में **सिद्धान्तरहस्य** तथा डॉ० दासगुप्तकी कृति (पृष्ठ ३७७) में **संन्यासनिर्णय** पर भी उनकी **विवरण** नाम्नी टीकाके होनेका उल्लेख है। षोडशग्रन्थके अन्तर्गत आने

---

१. द्रष्टव्य, शु० पु० सं० वा०, खण्ड २, पृष्ठ १०८.

२. वही, पृष्ठ ११७.

३. Literary Heritage of the Rulers of Amber and Jaipur with an Index to the Register of Manuscripts in the Pothikhana of Jaipur. (Khasmohor Collection), p. 268.

वाली अन्य कृतियोंपर श्रीविट्ठलनाथकृत टीकाके कहीं उल्लिखित और उपलब्ध न होनेके कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने षोडशग्रन्थके सभी सोलहों ग्रन्थोंपर टीका लिखी थी। स्पष्ट है कि **अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय**के पृष्ठ ७६-७७ पर श्रीविट्ठलनाथके ग्रन्थोंकी सूचीमें **'षोडश ग्रन्थपर टीका'** के उल्लेख तथा **श्रीवल्लभवंशवृक्ष तथा उत्तर भारतीय आन्ध्र (तैलङ्ग) भट्ट वंशवृक्ष** के पृष्ठ दसपर श्रीविट्ठलनाथकी रचनाओंके अन्तर्गत **'षोडशग्रन्थटीका'** के उल्लेखसे यह समझ लेना भूल होगी कि डॉ० दीनदयालुगुप्त या श्रीद्वारिकादास परीख को षोडशग्रन्थकी सभी कृतियोंपर श्रीविट्ठलनाथकी टीका उपलब्ध हुई है।

श्रीवल्लभाचार्यकृत **मधुराष्टकम्** पर भी श्रीविट्ठलनाथने विवृति लिखी थी जो पुष्टिमार्गीय युवक परिषद् बम्बई द्वारा वि० सं० २०१८ में प्रकाशित **मधुराष्टकम्** में मुद्रित मिलती है।

श्रीविट्ठलनाथकृत **अष्टाक्षरनिरूपणम् बृ० स०** (पृष्ठ १६१-१६२) में मुद्रित साढ़े सत्रह कारिकाओंकी पद्यबद्ध कृति है जिसमें अष्टाक्षरमन्त्रके अर्थ और महत्त्वका निरूपण किया गया है।

श्रीमद्भागवतकी श्रीवल्लभाचार्यकृत **सुबोधिनी** टीकाके एक अंशपर श्रीविट्ठलनाथने टिप्पणी लिखी है। दशमस्कन्धसुबोधिनीके प्रथम एवं द्वितीय प्रकरण (अर्थात् जन्म प्रकरण और तामस प्रकरण), तथा तृतीय प्रकरण (अर्थात् राजस प्रकरण) के एक अध्याय (सुबोधिनीके अनुसार दशमस्कन्धके चवालीसवें अध्याय) पर उनकी टिप्पणी उपलब्ध है और श्री धारजलाल सांकलिया द्वारा संवत् २००७ में बम्बईसे **श्रीमतीटिप्पणी** के नामसे प्रकाशित की जा चुकी है। इस कृतिका उल्लेख **गो० श्रीवि०** (पृष्ठ ८) में **सुबोधिनी-टिप्पणी**, डॉ० दासगुप्तकी कृतिमें **संन्यासावच्छेदापरनाम्नीसुबोधिनी टिप्पणी**[1] और **श्रीवि० च०** (पृष्ठ ५०) में **श्रीमतीटिप्पणीजी** के नामसे हुआ है। डॉ० दासगुप्तकी पूर्वोक्त कृति (के पृष्ठ ३७७) में श्रीविट्ठलनाथकी कृतिके रूपमें उल्लिखित **भागवतदशमस्कन्धविवृति** सम्भवतः इसी **भागवतदशमस्कन्धसुबोधिनीविवृति** का भूलसे लिखा गया नाम हो क्योंकि भागवतपर श्रीविट्ठलनाथकी न तो कोई स्वतन्त्र टीका मिलती है और न ऐसी किसी कृतिका प्राचीन ग्रन्थों या परम्परा में कोई उल्लेख ही मिलता है। श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धकी श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी टीकाके होते हुए और स्वयं उसकी टिप्पणीके लेखक होते हुए भी श्रीविट्ठलनाथ भागवतके दशमस्कन्धकी स्वतन्त्र टीका या

---

१. "His other works were......, Subodhinī-ṭippaṇī (a commentary on the Subodhinī), otherwise called Sannyāsāvaccheda."
A History of Ind. Phil. Vol. IV., p. 379.

विवृति लिखते यह सम्भव भी नहीं लगता क्योंकि यदि उन्हें श्रीमद्भागवतकी टीका लिखनी ही होती तो वे दशमस्कन्धके बजाय उस अंशपर टीका लिख कर (अणुभाष्यकी ही भाँति) श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनीको ही पूरा करते जिस अंशपर सुबोधिनी नहीं है।

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धकी श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी टीकामें भी अनेक स्थलोंमें श्रीविट्ठलनाथके अनेक वाक्य सन्निविष्ट मिलते हैं[१]। अवधेय है कि सुबोधिनीपर टिप्पणी लिखनेके बावजूद श्रीविट्ठलनाथने मूलमें ही कुछ अंश जोड़ना उचित समझा। इसके साथ ही उन्होंने भागवतके कुछ श्लोकोंपर स्वतन्त्र लेख भी लिखे हैं। इस प्रकारका एक स्वतन्त्र लेख **'तासामाविरभूच्छौरिः'** (भाग० १०।३२।२) इत्यादि श्लोकपर है जो तामस-फल-प्रकरण सुबोधिनीमें परिशिष्टके रूपमें (पृष्ठ ४०-४४ पर) मुद्रित मिलता है। इसी प्रकार **'भगवानपि ता रात्रीः'** (भाग० १०।२९।१) तथा **'कथा इमास्ते कथिता महीयसाम्'** (भाग० १२।३।१४) श्लोकोंका उन्होंने कारिकाबद्ध विवरण लिखा है। इनमेंसे प्रथम तामसफल-प्रकरणकी सुबोधिनीके परिशिष्टमें (श्रीगोपेश्वरकृतव्याख्यासहित) तथा द्वितीय सप्रकाश एकादशस्कन्धसुबोधिनीके परिशिष्टमें (श्रीपुरुषोत्तमकृतविवृतिसहित) प्रकाशित हुआ है। इसी प्रकार **'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा'** (भाग० ११।२।३६) इत्यादि श्लोकका श्रीविट्ठलनाथकृत तात्पर्यनिरूपण भी सप्रकाश एकादशस्कन्धसुबोधिनीमें (चतुर्थ परिशिष्टके रूपमें) मुद्रित है। प्रो० कण्ठमणि शास्त्रीने श्रीमद्भागवतके **'श्रुङ्ग्यग्निदंष्ट्र्यसिजलद्विज......'** (भाग० १०।८।२५) इत्यादि पद्यपर श्रीविट्ठलनाथके एक अप्रकाशित लेख, वेदस्तुति (भाग० १०।८७।१४-४१) पर उनकी श्रुतिगीतार्थ नामक एक अप्रकाशित कृति तथा भागवतके एक अन्य श्लोकपर उनके

---

१. द्रष्टव्य, जन्मप्रकरणसुबोधिनी १०।३।७ (पृष्ठ ९-१०), तामस-साधन-प्रकरणसुबोधिनी १०।१९।२१ (पृष्ठ ९), तामस-फल-प्रकरणसुबोधिनी १०।२६।३ (पृष्ठ ७-८), १०।२६।८ (पृष्ठ ११), १०।२६।१२-१६ (पृष्ठ १७-२२), १०।२६।३१ (पृष्ठ ३३), १०।२६।३३ (पृष्ठ ३८), १०।२६।३५ (पृष्ठ ४०), १०।२६।३६ (पृष्ठ ४१), १०।२६।३८ (पृष्ठ ४४), १०।२६।४० (पृष्ठ ४७), १०।२७।२ (पृष्ठ ५८), १०।२७।२१ (पृष्ठ ७०), १०।२८।१२ (पृष्ठ ९९), १०।२९।१४ (पृष्ठ ११७), १०।२९।२१ (पृष्ठ १२५), १०।३०।१६ (पृष्ठ १४४), १०।३२।९ (पृष्ठ १९०), १०।३२।१० (पृष्ठ १९१-१९३), १०।३२।२३ (पृष्ठ २०४-२०५), राजसप्रमेयप्रकरणसुबोधिनी १०।४४।१ (पृष्ठ १०५), १०।४४।३८ (पृष्ठ १५२), तथा १०।४४।६० (पृष्ठ १६८-१७०), तामसप्रमेयप्रकरणसुबोधिनी १०।१८।५ (पृष्ठ ६४-६५), १०।१८।९ (पृष्ठ ६८-६९), १०।१८।१४ (पृष्ठ ७२), १०।१८।१९ (पृष्ठ ७४-७५), तामससाधनप्रकरणसुबोधिनी १०।१९।१४ (पृष्ठ ७), १०।२५।१२ (पृष्ठ ७३), तामसफलप्रकरणसुबोधिनी १०।२६।३२ (पृष्ठ ३५), १०।२९।२ (पृष्ठ १०६), १०।२९।३ (पृष्ठ १०७) तथा १०।३०।१७ (पृष्ठ १४६)।

एक स्वतन्त्र लेख के कांकरोलीके सरस्वती भण्डारमें होनेका उल्लेख किया है[१]। डॉ० दासगुप्तकी पूर्वोक्त कृतिमें (पृष्ठ ३७७ में) उल्लिखित स्वतन्त्रालेखन से सम्भव है श्रीविट्ठलनाथके इस प्रकारके स्वतन्त्र लेख ही अभिप्रेत हों। उनकी भागवत-सम्बन्धी एक अन्य कृति भागवततत्त्वदीपिका का उल्लेख भी डॉ० दासगुप्तने पूर्वोल्लिखित पृष्ठ पर (आफ्रेक्तकी सूचीके आधारपर ही) किया है।

श्रीमद्भागवतके षष्ठस्कन्धके ग्यारहवें अध्यायके वृत्रप्रोक्त अन्तिम चार श्लोक (भाग० ६।११।२४–२७) चतुःश्लोकीके नामसे प्रसिद्ध हैं। षष्ठ स्कन्धपर श्रीवल्लभाचार्यकी सुबोधिनी व्याख्या न होनेके कारण श्रीविट्ठलनाथने इस महत्त्वपूर्ण चतुःश्लोकीपर व्याख्या लिखी थी जो सेठ नारायणदास जेठानन्द आसनमल ट्रस्ट बम्बईसे सन् १९३७ में प्रकाशित वृत्रासुरचतुःश्लोकीमें श्रीसुबोधिनी व्याख्याके नामसे मुद्रित हो चुकी है। बृ० स० पृष्ठ १९७ पर 'अथाद्या (वृत्त) चतुःश्लोकी' शीर्षकसे मुद्रित चतुःश्लोकी कोई स्वतन्त्र कृति नहीं प्रत्युत इसी टीकाके प्रारम्भिक चार श्लोकोंका सङ्कलनमात्र है। उनकी यह श्लोकचतुष्टयी वृत्रचतुःश्लोकीकारिकाः के नामसे और यह गद्यमयी व्याख्या वृत्रचतुःश्लोकीव्याख्या के नामसे प्रसिद्ध है।

श्रीविट्ठलनाथकृत गीतातात्पर्य नामक निबन्ध—जिसकी रचना श्रीवि० च० (पृष्ठ ५६) के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने वि० सं० १६२० में वडनगरमें दामोदर झाके लिए की थी—श्रीरमानाथ भट्ट द्वारा अनूदित तथा भट्ट श्रीगौरगोपाल शर्मा द्वारा बम्बईसे १९३४ ई० में प्रकाशित हो चुका है। इसकी प्रस्तावनामें (पृष्ठ ३ पर) श्रीरमानाथ भट्ट लिखते हैं कि 'श्रीवल्लभाचार्य अथवा उनके पुत्रकी निर्मित कोई गीताकी टीका नहीं मिलती। हाँ श्रीविट्ठलेशप्रभुकृत गीताकी टीकाका एक अध्यायमात्र मिलता है।'' यहाँ उल्लिखित गीताकी टीकाके एक अध्यायका उल्लेख श्रीविट्ठलेशचरितामृतमें (पृष्ठ ५० पर) भी किया गया है। यह टीका गीतार्थविवरणम् नामसे श्रीमगनलालशास्त्री द्वारा बम्बईसे प्रकाशित गीतातत्त्वदीपिकाके साथ छपी थी। इसकी अन्तिम पंक्तिसे[२] स्पष्ट है कि यह गीताके प्रथम अध्यायके बीसवें श्लोकपर[३] ही समाप्त हो जाती है यद्यपि पो० कण्ठमणिशास्त्रीकी धारणा है कि अनुपलब्ध अंशपर भी विवरण लिखा गया था[४]। इसे श्रीविट्ठलनाथकृत माना जाता है किन्तु इसमें गो० पुरुषोत्तमकृत गीताटीकाका उल्लेख[५] मिलनेसे अनुमान होता है कि यह किसी परवर्तीकी अधूरी कृति है। श्रीगोपालनारायण बहुराके अनुसार जयपुरनरेशके पोथीखानामें श्रीविट्ठलेश्वरकृत किसी सप्तश्लोकिगीताविवरणम् तथा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'

१. द्रष्टव्य, शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय, खण्ड १, पृष्ठ १९३, २०४ तथा २१२.

२. कपिध्वज इति शब्दलाघवं सूचितम्।

३. अथ व्यवस्थितान् दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान् कपिध्वजः। (गीता १।२०)।

४. शु० पु० सं० वा० खण्ड १, पृष्ठ ७९.

५. यावन्न दृश्यते विशेषः गीतामृततरङ्गिणी।

पद-टीका की पाण्डुलिपि है[१]। श्रीपरीखने[२] 'गीताहेतु' और डॉ० दासगुप्तने[३] 'भगवद्गीता हेतुनिर्णय' नामसे श्रीविट्ठलनाथके गीतासम्बन्धी एक अन्य ग्रन्थका उल्लेख किया है, इसे श्रीपरीखने या डॉ० दासगुप्तने भी देखा था या नहीं यह कह सकना कठिन है।

श्रीविट्ठलनाथकृत गायत्री-व्याख्या—जिसका उल्लेख गो० श्रीवि० (पृष्ठ ९) में गायत्र्यर्थकारिका और श्री०वि०च० (पृष्ठ ५०) में गायत्रीकारिका नामसे हुआ है—चौंतीस[४] कारिकाओंकी एक पद्यात्मक कृति है जो बृ० स० में (पृष्ठ १०९-११३) पर मुद्रित मिलती है। यह बम्बईसे श्रीमगनलाल शास्त्री द्वारा प्रकाशित श्रीमद्वल्लभाचार्य ग्रन्थरत्नमालाके प्रथम पुष्प—श्रीमद्वल्लभाचार्यप्रादुर्भावितं श्रीमद्गायत्रीभाष्यम्—में श्रीपुरुषोत्तमकृतविवरणसहित मुद्रित मिलती है। वहाँ इसे श्रीगायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकाः कहा गया है। डॉ० दासगुप्तने अपनी पूर्वोक्त कृतिमें लिखा है कि श्रीपुरुषोत्तमने श्रीविट्ठलनाथकृत गायत्रीभाष्यकी टीका भी लिखी थी[५]। स्पष्ट है कि वे गायत्रीभाष्यको श्रीविट्ठलनाथकृत समझते हैं किन्तु वल्लभ-सम्प्रदायमें इसे स्वयं श्रीवल्लभाचार्यकृत माना जाता है। श्रीवल्लभाचार्यकी यह गद्यात्मककृति गोस्वामी श्रीगोकुलेश्वरकृत स्वतन्त्र लेख सहित उपर्युक्त ग्रन्थमालाके प्रथम पुष्पके रूपमें श्रीमगनलाल शास्त्री द्वारा प्रकाशित की गयी थी। यह बृ० स० (पृष्ठ १०३-१०९) में भी मुद्रित मिलती है और वहाँ भी इसे श्रीमद्वल्लभाचार्यकृत ही कहा गया है। डॉ० दासगुप्तका यह समझना भी भूल है कि श्रीपुरुषोत्तमका विवरण गायत्रीभाष्य नामक गद्यात्मककृतिकी व्याख्या है। वस्तुतः यह विवरण जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है श्रीविट्ठलनाथकी पद्यात्मककृति श्रीगायत्रीव्याख्या या श्रीगायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकाः की व्याख्या है और स्वयं श्रीपुरुषोत्तमने इसे श्रीमत्प्रभुचरणकृतगायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिकाविवरण कहा है।

श्रीजयदेवकृत गीतगोविन्दपर भी श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृष्ठ १०) में गीतगोविन्दटीका और गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथजी (पृष्ठ ६) में गीतगोविन्दार्थ के नामसे श्रीविट्ठलनाथकृत एक टीका के होनेका उल्लेख मिलता है। श्रीविट्ठलनाथको पो०

---

१. Literary Heritage of the Rulers etc. p. 268.

२. श्रीविट्ठलेशचरितामृत पृष्ठ ५०, ५६.

३. A History of Ind. Phil. Vol. IV., p. 377.

४. पो० कण्ठमणिशास्त्रीने इसे शु० पु० सं० वा० खण्ड १, पृष्ठ ६३ में ३५ कारिकाओं वाली कृति कहा है. वस्तुतः पैंतीसवीं कारिका समझा जाने वाला श्लोक श्वेताश्वतरोपनिषद् (६।३) का अन्तिम मन्त्र है जिसे उपसंहारके लिए सन्निविष्ट कर लिया गया है।

५. "He (पुरुषोत्तम) also wrote a sub-commentary on Viṭṭhala's *Bhāṣya* on the *Gāyatrī*." A History of Ind. Phil. Vol. IV., p. 380.

कण्ठमणि शास्त्रीकी कृति (शु० पु० सं० श०, खण्ड १, पृष्ठ २४४) में अप्रकाशित गीतगोविन्दविवृति का, डॉ० दासगुप्तकी कृतिमें (पृष्ठ ३७७ पर) गीतगोविन्दप्रथमाष्टपदीविवृति का, श्रीविट्ठलेशचरितामृत (पृष्ठ ५१) में गीतगोविन्दप्रथमाष्टपदीटीका तथा श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृष्ठ १०) में अष्टपदीटीका का कर्ता कहा गया है किन्तु वाल्लभ-साहित्यके अधीती विद्वान् पं० हरिशङ्करशास्त्री गीतगोविन्दार्थका अध्ययन कर इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि "गीतगोविन्दार्थ'''के अनुसार गीतगोविन्दमें एक भी वाक्य ऐसा अवशिष्ट नहीं रह सकता जिसका शृङ्गारवर्णनमें उपयोग न हो। '''म्लेच्छान् मूर्च्छयते' इस पदका अर्थ है 'सुरते मणितादिवर्द्धयते' और भी जहाँ-तहाँ कई प्रकारके सुरत-विशेषोंका वर्णन किया है, व्याख्या सरस है, परन्तु इसे श्रीप्रभुचरणोंकी कृति कहनेमें सङ्कोच अवश्य है, क्योंकि 'म्लेच्छान् मूर्च्छयते' इस पद का 'सुरते मणितादिवर्द्धयते जैसा अप्रसिद्ध अर्थ श्रीप्रभुचरण लिखें यह कम सम्भव है। तथापि यह ग्रन्थ साम्प्रदायिक अवश्य है।" (गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथजी, पृष्ठ १०)।

श्रीवेदान्तदेशिककृत न्यासादेश के एक श्लोककी श्रीविट्ठलनाथकृत विवृति का उल्लेख गीता (१८।६६) की अपनी टीकाओंमें श्रीवल्लभ तथा श्रीपुरुषोत्तम ने किया है। इस व्याख्याका श्रीवि० च० (पृष्ठ ५०) में न्यासादेशविवृति, श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृष्ठ १०) में न्यासादेशविवरण, डॉ. दासगुप्तकी पूर्वोक्त कृतिमें (पृष्ठ ३७७ पर) न्यासादेशविवरणप्रबोध तथा गो० श्रीवि० (पृष्ठ ९) में न्यासादेशटीका के नामसे उल्लेख मिलता है। इसे श्रीरमानाथ शर्माने बड़ा मन्दिर बम्बईसे सन् १९१६ ई० में हिन्दीभाषान्तर सहित प्रकाशित किया था। इसके पृष्ठ छः पर आये 'भक्तिमार्गीयन्यासो घोषभूषणसीमन्तिनीष्वेवेति पितृचरणैः संन्यासप्रकरणे निरूपितम्'। इस वाक्य तथा उपसंहारके 'इति पितृचरणकृपातो गोपीपतिचरणरेणुधनिना यः। श्रीविट्ठलेन विवृतः' इत्यादि श्लोकसे इसके श्रीविट्ठलनाथकृत होनेकी पुष्टि होती है।

बृ० स० में (पृष्ठ ८४-८८) पर मुद्रित श्रीकृष्णके नामोंका निरूपण करनेवाली पैंतीस श्लोकोंकी कृति श्रीकृष्णप्रेमामृतम् को पुष्पिकामें 'श्रीवल्लभाचार्यविरचितं प्रेमामृतम्' कहा गया है। डॉ० दासगुप्तने कृष्णप्रेमामृतको श्रीविट्ठलनाथकी कृति माना है[1]। श्रीवि०च० (पृष्ठ ५५) के अनुसार 'इस ग्रंथको स्वामिनीजीने कृष्णके विरहमें अपने नखोंसे श्रीगिरिराजजीकी शिलापर लिखा था। बैठकचरित्रमें इसका उल्लेख हुआ है। इसको आचार्यचरणने लिख लिया था और जगदीशकी आज्ञा होनेपर उसकी एक यानि (? प्रति) चैतन्यको दे दिया था।' इसकी विभिन्न प्राचीन पाण्डुलिपियोंमें इसे श्रीकृष्णचैतन्यमुखपद्मविनिर्गत कहा गया है[2]। श्रीविट्ठलनाथने

१. A History of Indian Philosophy, Vol IV., p. 377.

२. चैतन्यसम्प्रदायके श्रीगोपालभट्टगोस्वामी द्वारा विरचित श्रीकृष्णप्रेमामृतम् नामक गद्यपद्यमयी कृति, जो कृष्णदास बाबा जी द्वारा प्रकाशित ग्रन्थरत्नपट्कम् में मुद्रित मिलती है, इससे भिन्न है।

इसकी विवरण नामक विशद व्याख्या लिखी है। इस व्याख्यामें ग्रन्थकारके लिए 'इत्याह' इत्यादि एकवचन शब्दोंके प्रयोगसे तथा इस ग्रन्थकी अन्य व्याख्याओंसे असहमति[1] प्रकट करनेसे यह अनुमान होता है कि यह श्रीवल्लभाचार्य या श्रीविट्ठलनाथकी कृति न होकर सम्भवतः श्रीचैतन्य या किसी अन्य की कृति है, किन्तु इसकी विवरण व्याख्या निस्सन्देह श्रीविट्ठलनाथकृत है।

श्रीविट्ठलनाथकी स्वतन्त्र कृतियोंमें दार्शनिक दृष्टिकोणसे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विद्वन्मण्डनम् है। इसकी प्रस्तावनामें इसे श्रुतिसूत्रादिकी मणियोंसे जटित और युक्तिमौक्तिकोंसे ग्रथित[2] बताते हुए उपसंहारमें कहा गया है कि श्रुतियों एवं व्यासवचनोंमें श्रद्धा रखनेवाले विद्वान् इसके अर्थको हृदयङ्गम कर अथवा इसे तोतेकी तरह रटकर भी प्रतिपक्षियोंको परास्त कर सकते हैं[3]। इसे ही डॉ. दासगुप्तकी कृतिमें प्रमादवश पृष्ठ ३७७ पर दो बार विद्यामण्डन और पृष्ठ ३८१ पर विद्वानमण्डन कहा गया है।

अणुभाष्यके श्रीविट्ठलनाथकृत अंशके अनेक वाक्यों[4]में तथा सुबोधिनीकी टिप्पणीमें विद्वन्मण्डनका नामोल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि श्रीविट्ठलनाथने अणुभाष्यकी पूर्ति तथा टिप्पणीकी रचना करनेके पहले ही विद्वन्मण्डनका प्रणयन पूरा कर लिया था[5]। इस सम्बन्धमें विद्वन्मण्डनकी प्रस्तावनामें श्रीबलभद्रशर्मा द्वारा उद्धृत कुछ प्राचीन पद्यों[6]पर विचार करनेसे यह ज्ञात होता है कि विद्वानोंकी

---

१. अहःशब्दः क्षणोपलक्षक एव इति केचित्, तन्न, मुख्यार्थोपपत्तौ गौणस्य अयुक्तत्वात्।
(प्रेमामृतविवरणम्—३)।

२. श्रुतिसूत्रादिमणिभिर्जटितं युक्तिमौक्तिकैः। ग्रथितं कुरुते विद्वन्मण्डनं विट्ठलः सुधीः॥
(विद्वन्म० ३ पृष्ठ १०)।

३. वरीवर्ति श्रद्धा श्रुतिषु यदि वा व्यासवचने तदा विद्वांसोऽस्मद्विरचितमिदं मण्डनवरम्।
यथोक्तं कण्ठे वा शुकवदथवाऽर्थं च हृदये मुदा कृत्वाऽऽयत्त धुनुत रिपुपक्षाभिधतमः॥
(विद्वन्म० पृष्ठ ३५४)।

४. कार्यवैचित्र्यञ्च कथम् इत्यादिचोद्यं 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः' (ब्रह्मसूत्र २।३।४२) इत्यत्र निरस्तं, विद्वन्मण्डने श्रीविट्ठलेन च (अणुभाष्य ३।२।४१)।
एतच्चोपपादितं पूर्वं विद्वन्मण्डने च। (अणुभाष्य ३।३।५४)।
एतद्यथा तथा विद्वन्मण्डने प्रपञ्चितम्। (अणुभाष्य ४।२।१६)।

५. साम्प्रदायिकसुधीभिर्भाष्यशेषे सुबोधिनीटिप्पण्याञ्च विद्वन्मण्डननामोपलब्धमेव स्यात्, तेन भाष्यशेषटिप्पणीप्रणयनतः पूर्वमेतन्निर्मितिरिति शक्यं प्रतिपत्तुम्। (विद्वन्मण्डनप्रस्तावना पृ०८)।

६. व्याख्यातं विट्ठलेशार्यैः सूत्राध्यायद्वयं तथा। निबन्धतुर्यस्कन्धार्थटीकाऽग्रेतनपद्धतिः॥
समारब्धा सामिकृता हरिवंशानुशासनात्। स्वभेदैकसमाम्नायोऽभिप्रायो विट्ठलेशितुः।
तत्सामिरचितग्रन्थत्वान्न तत्र स्वनामभृत्। पूर्वं विद्वन्मण्डनं तु कृतं तैर्विसमञ्जसम्॥
सूत्रभाष्यानन्तरं शोधितमित्यविरोधि तत्। अतस्तदीयग्रन्थेषु न विरोधोऽस्ति कश्चन॥
इतीन्दिरेशदासस्य कृतिपुष्पाञ्जलिर्हरौ।

एक परम्परा यह भी मानती आयी है कि श्रीविट्ठलनाथने विद्वन्मण्डनकी रचना अणुभाष्यके शेषांशको पूरा करनेके पहले ही कर ली थी किन्तु उसका संशोधन अणुभाष्य पूरा कर लेनेके बाद किया। श्रीबलभद्रशर्मा[1] के अनुसार इस धारणाकी पुष्टि स्वयं विद्वन्मण्डनके "इदं तु यथा तथा परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्रह्मसूत्र २।३।४१) इत्यधिकरणे निरूपयिष्यामः' (विद्वन्मण्डनम्, पृष्ठ ११४) इत्यादि वाक्योंसे भी होती है। विद्वन्मण्डनकी सिद्धान्तशोभा टीकासे ज्ञात होता है कि अपनी इस कृतिको अन्तिम रूप देनेके समय तक श्रीविट्ठलनाथ अपने विद्वान् पुत्र-पौत्रों एवं शिष्यों से विचार-विमर्श करते हुए सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेकी प्रक्रिया अपनाने लगे थे। इससे स्पष्ट है कि विद्वन्मण्डनको अन्तिम रूप उन्होंने वय अधिक हो जानेपर ही दिया होगा। इससे भी पूर्वोक्त अनुमानकी ही पुष्टि होती है। विद्वन्मण्डनका संस्कार करनेके समय पुत्र-पौत्रोंके वर्तमान होनेके सम्बन्धमें सम्प्रदायमें परम्परया यह माना जाता रहा है कि विद्वन्मण्डनमें उपन्यस्त अधिकांश पूर्वपक्ष श्रीविट्ठलनाथके श्रीरघुनाथ आदि पुत्रों एवं पौत्रों द्वारा किये जाते थे और श्रीविट्ठलनाथ उनका खण्डन कर सिद्धान्त का प्रतिपादन करते थे। सिद्धान्तशोभा टीकाके वाक्यों[2] से इसकी पुष्टि होती है। श्रीगोविन्दप्रभुकृत नित्यकृत्यसंग्रहके विद्वन्मण्डनप्रस्तावना (पृष्ठ ९) में उद्धृत वाक्यों[3]से भी यही सिद्ध होता है कि पुत्र-पौत्रादिकोंको किसी भी प्रकारका सन्देह होनेपर वे सभीको सन्तुष्ट कर देनेवाला समाधान देकर ही आगे बढ़ते थे।

विद्वन्मण्डनकी अपनी प्रस्तावनामें सिद्धान्तशोभा नामक टीकाके 'इति प्रभुचरणाविष्कृताधिकरणमीमांसासंचारी भाष्यार्थः प्रसंगाद्दर्शितः' (सिद्धान्त शोभा, पृष्ठ १०) इस वाक्यके आधारपर श्रीबलभद्र शर्माने श्रीविट्ठलनाथके अधिकरणमीमांसा नामक निबन्ध—जो अब उपलब्ध नहीं है—के होनेका अनुमान किया है[4]।

---

१. विद्वन्मण्डनप्रस्तावना, पृष्ठ ८-९.

२. परमतभाषया प्रभुप्रौढतनयाः प्रत्यवतिष्ठन्ते 'निर्विशेषं निरूप्यते' इति। (सिद्धान्तशोभा, पृष्ठ ३)।
'तर्हि' इत्यारभ्यैव रघुनाथवर्याणां पूर्वपक्षावतारः 'चेद्' इति पर्यन्तमित्याहुः। (वही, पृष्ठ ४०)।
अधुना श्रीमदाचार्यसिद्धान्तं सिद्धाञ्जनेन संगोप्य वदतां श्रीगोकुलनाथानामुक्तिमुपदर्शयन्ति 'यागादिकरणस्य' इति. 'समाधानाय' इति पर्यन्तम्। (सिद्धान्तशोभा, पृष्ठ ४५)।
अत्रासिधाराव्यूहे निवेशिताः केचित्स्वपक्षीयाः पौत्रप्रभृतयस्त एव प्रतिवादिनं पर्यनुयुञ्जते। (सिद्धान्तशोभा, पृष्ठ ४८)।

३. विद्वन्मण्डनप्राकट्ये श्रीगोस्वामिमुखादेकः शब्दो व्याकरणाशुद्ध इव निःसृतः, तदा श्रीगिरिधरैर्विज्ञप्तिः कृता, शब्दोऽयमशुद्ध इव भातीति, तदा श्रीगोविन्दरायानाकार्योक्तम्, 'कथमयं शब्दः सिद्ध्येत् ?' तदा यद्व्याकरणे सिद्धः तद्रीत्या साधितः।

४. कतिपये च कालेन कवलितकलेवरा इति क्वचन केवलं नाम्ना परिचीयन्ते। एष्वेव सिद्धान्तशोभापरिचायितः 'अधिकरणमीमांसा' नाम्ना निबन्धः स्यादिति तर्क्यते। (विद्वन्मण्डनप्रस्तावना, पृष्ठ ५-६)।

भक्तिहंस और भक्तिहेतुनिर्णय ग्रन्थोंका प्रणयन दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता[1] के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने खंभाइचके शास्त्रज्ञ ब्राह्मण मुरारी आचार्यके आग्रहपर वादग्रन्थके रूपमें किया था। भक्तिहंसमें भक्तिके स्वरूपका निरूपण करते हुए उसकी उपासना आदि मार्गोंसे विशिष्टताका प्रभावशाली ढंगसे प्रतिपादन किया गया है। इसका हिन्दी अनुवाद एवं व्याख्या सहित एक संस्करण इसी ग्रन्थमालाके प्रथम पुष्पके रूपमें प्रकाशित किया जा चुका है। भक्तिहेतुनिर्णयमें भक्तिके हेतुका विचार करते हुए यह प्रतिपादित किया गया है कि यह हेतु भगवदनुग्रह ही है, कर्म आदि नहीं। इसके विवेच्य विषयका विश्लेषण हम इसी भूमिकाके अन्तमें करेंगे। इसे ही कभी-कभी भक्तिहेतु भी कह दिया जाता है[2] अतः श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंकी विभिन्न सूचियोंमें उल्लिखित भक्तिहेतुको इस कृतिसे पृथक् कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ न समझना चाहिए। अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय तथा श्रीवि० च० में श्रीविट्ठलनाथकी कृतिके रूपमें उल्लिखित भक्तिनिर्णय के मुद्रित या अमुद्रित रूपमें किसीके दृष्टिपथमें आनेकी जानकारी स्वयं दीनदयालुगुप्त और श्रीपरीख को भी होनेका कोई प्रमाण नहीं है! श्रीविट्ठलनाथके भक्तिसम्बन्धी एक अन्य चौबीस श्लोकों वाले भक्तिजीवनम् नामक ग्रन्थका—जो पुष्टिभक्तिसुधा पत्रिकामें प्रकाशित भी हो चुका है —उल्लेख पो० कण्ठमणि शास्त्रीने अपनी कृति (शु० पु० सं० वा० खण्ड१, पृष्ठ १६५) में किया है। श्रीहरिशङ्कर शास्त्रीने उनकी भक्तिमार्गमर्यादा नामक एक कृतिका उल्लेख गो० श्रीवि० (पृष्ठ ८) में किया है किन्तु इसके कहीं उपलब्ध होनेकी चर्चा नहीं की है।

गो० श्रीवि० (पृष्ठ ९) के अनुसार मुक्तितारतम्यनिर्णयको भी श्रीविट्ठलनाथकी कृति माना जाता है। किन्तु पं० हरिशङ्कर शास्त्री इसे पढ़कर इस निष्कर्षपर पहुँचे हैं कि "इसके तो साम्प्रदायिक होनेमें भी सन्देह है।...अनुमान होता है कि यह ग्रन्थ...किसी मध्वसम्प्रदायी विद्वान्का है। इसमें मुक्तितारम्य विवेचनके सिवा और किसी प्रकारकी सिद्धान्तचर्चा नहीं है और इतिश्रीमें विट्ठलेशप्रभुका नाम बहुत स्पष्ट है, इसलिये यह अनुमानसे काम लिया है।" (गो० श्री वि० पृष्ठ १०-११)। यह कहना कठिन है कि श्री पो० कण्ठमणि शास्त्रीने श्रीविट्ठलनाथ विरचित जिस अप्रकाशित भक्तितारतम्यनिर्णयके कांकरोलीके सरस्वती भण्डारमें होनेका उल्लेख[3] किया है वह पूर्वोक्त मुक्तितारतम्यनिर्णय ही है या इससे भिन्न कोई स्वतन्त्र कृति।

---

१. दो० वार्ता, खण्ड२, पृष्ठ २२९.

२. निर्णीतवान् भक्तिहेतुं निगूढाशयविट्ठलः। (भक्तिहेतुनिर्णय, उपसंहार)।
कृतवान् रघुनाथोऽहं भक्तिहेतुप्रकाशनम्। (भक्तिहेतुविवृति, उपसंहार)।

३. शु० पु० सं० वा०, खण्ड २, पृष्ठ २२२.

डॉ. दासगुप्तने उनकी कृतियोंमें **अवतारतारतम्यस्तोत्रका** उल्लेख किया है[1] और जयपुरनरेशके संग्रहमें उनकी **तारतम्यरत्नमालाप्रदीपिका** (**अवतारविचारात्मिका**) की पाण्डुलिपि मिलती है। इसके साथ ही उनकी **'आचार्यसिद्धान्तवाङ्माला'** (टीकासहिता) की पाण्डुलिपि भी वहाँ सुरक्षित है[2]।

श्रृङ्गाररसमण्डनम् श्रीविट्ठलनाथकी एक अन्य महत्त्वपूर्ण कृति है। श्रीहरिराय-के अनुसार उन्होंने इसकी रचना चाचा हरिवंशके आग्रहसे की थी[3]। यह रससर्वस्व या व्रतचर्या, दानलीला और उल्लास नामक तीन विभागोंमें विभक्त है। इसका प्रकाशन श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने बम्बईसे वि०सं० १९७५ में किया था। श्रीविट्ठलेशचरितामृत (पृष्ठ ५२) के अनुसार इसके प्रथम विभाग **व्रतचर्या** की रचना चीरघाट पर हुई थी, द्वितीय विभाग **दानलीला** का प्रारम्भ रीठौरामें और समापन असारवामें हुआ था तथा तृतीय विभाग वेलबनमें लिखा गया था।

श्रीहरिशङ्कर शास्त्रीकी सूची[4] में पृष्ठ ९ पर तथा डॉ. दासगुप्तकी सूचीमें पृष्ठ ३७७ पर श्रीविट्ठलनाथकी कृतिके रूपमें उल्लिखित और बृ० स० (पृष्ठ १८१-१८२) में मुद्रित **रससर्वस्व** स्वतन्त्र कृति न होकर इसी **श्रृङ्गाररसमण्डन** के **रससर्वस्व**-नामक प्रथम विभागके प्रथम ग्यारह श्लोकोंका संग्रह ही है। यह विभाग **व्रतचर्या** के नामसे भी प्रसिद्ध है और श्रीशास्त्रीकी पूर्वोक्त सूचीमें उल्लिखित **'व्रतचर्याष्टपदी'** से अभिप्राय इसी विभागके अन्तर्गत आने वाली (पृष्ठ ५-६ पर मुद्रित) अष्टपदी से है। यही अष्टपदी बृ० स० में पृष्ठ १७३-१७४ पर **व्रजचर्याष्टपदी** के नामसे मुद्रित मिलती है। स्पष्ट है कि **व्रतचर्याष्टपदी** या **व्रजचर्याष्टपदी** को **श्रृङ्गाररसमण्डन** से भिन्न स्वतन्त्र कृति मानना भूल है। इसी प्रकार शास्त्रीजीकी पूर्वोक्त सूचीमें उल्लिखित और बृ०स० पृष्ठ १७९-१८० में मुद्रित **दानलीलाष्टक** भी स्वतन्त्र कृति न होकर **श्रृङ्गाररसमण्डन** के **दानलीला** नामक द्वितीय विभागके प्रथम आठ श्लोकोंका संग्रह ही है। शास्त्रीजीकी सूचीमें पृष्ठ ८ पर उल्लिखित और बृ०स० में पृष्ठ १८२-१८६ पर मुद्रित **श्रृङ्गाररस** भी स्वतन्त्र कृति न होकर श्रृङ्गाररसमण्डनके तृतीय विभागका प्रथम उल्लास मात्र है।

श्रीविट्ठलनाथको गृहकलहके कारण वि० सं० १६०५ की पौष शुक्ल षष्ठीसे वि० सं० १६०६ की आषाढ़ शुक्ल षष्ठी तक छः मास श्रीनाथजीकी सेवाका अवसर प्राप्त न हो सका था। इस अवधिमें उन्होंने परासोलीमें चन्द्रसरोवरपर रहकर नौ **विज्ञप्तियाँ** लिखी थीं। ये विज्ञप्तियाँ श्रीभक्तिमार्गीय वाचनालय बम्बईसे वि० सं० २०१२ में प्रकाशित **विज्ञप्तिस्तोत्रों**में गुजराती अनुवादसहित प्रकाशित हो चुकी हैं।

---

१. A History of Ind. Phil. Vol. IV., p. 377.
२. Literary Heritage of the Rulers etc., p. 268.
३. दो० वार्ता, खण्ड १, भावप्रकाश, पृष्ठ ६३.
४. गो० श्रीवि०, पृष्ठ८-९.

इनमेंसे प्रथम आठमें प्रत्येकमें पच्चीस और नवींमें छब्बीस श्लोक हैं। ये विज्ञप्तियाँ बृ० स० (पृष्ठ १९८-२२६) में भी मुद्रित मिलती हैं। बृ० स० में (पृष्ठ १७१-१७३ पर) इनसे पृथक् चौबीस श्लोकोंकी एक अन्य विज्ञप्ति भी श्रीविट्ठलनाथकृत कहकर मुद्रित की गयी है, किन्तु इस विज्ञप्तिके चौबीस श्लोकोंमेंसे बीस श्लोक (संख्या १-९, १०-१४, १६, १९-२३ और २४ क्रमशः) पूर्वोक्त विज्ञप्तियोंमेंसे तीसरी विज्ञप्तिके बीस श्लोकों (संख्या १-१९ और २५) से अभिन्न हैं। इस विज्ञप्तिके सभी चौबीस श्लोक श्रीगोकुलेशकी कृतिके रूपमें विज्ञप्तिस्तोत्रो (पृष्ठ ६८-७५) में मुद्रित विज्ञप्तिमें भी (श्लोकसंख्या १-२३ तथा २९ के रूपमें) मुद्रित मिलते हैं। श्रीगोकुलेशकृत कही जानेवाली इस विज्ञप्तिके शेष तेरह श्लोकोंमेंसे पाँच (श्लोकसंख्या ३०-३४) श्रीविट्ठलनाथकृत चतुर्थ विज्ञप्तिके प्रथम पाँच श्लोकोंसे अभिन्न हैं।

श्रीविट्ठलनाथकी अन्य स्तुतिपरक कृतियोंमेंसे श्रीगोकुलाष्टकम्, ललितत्रिभङ्ग-स्तोत्रम् (५५ श्लोकात्मक), यमुनाष्टपदी, श्रीस्वामिन्यष्टकम्, राधाप्रार्थनाचतुःश्लोकी, श्रीस्वामिनीप्रार्थना (षट्श्लोकात्मिका[1]) और श्रीस्वामिनीस्तोत्रम् (द्वादशश्लोकात्मक) बृ० स० में मुद्रित मिलती हैं। सम्भवतः इनमेंसे अन्तिम—स्वामिनीस्तोत्र—को ही डॉ० दासगुप्तकी कृतिमें (पृष्ठ ३७७ पर) प्रमादवश 'स्वामिस्तोत्र' कहा गया है। पो० कण्ठमणि शास्त्रीने उनके बालकृष्णाष्टकम् या बालकृष्णनमनाष्टकम् नामक एक अप्रकाशित अष्टकके कांकरोलीके सरस्वती भण्डारमें होनेका उल्लेख किया है[2]। उनकी चतुःश्लोकी, रक्षास्मरणम् (एकादशश्लोकात्मक), स्वप्नदर्शनम्, प्रबोधः और गुप्तरसः शीर्षकवाली कृतियाँ भी बृ० स० में मुद्रित मिलती हैं। उनकी गुप्तषोडशश्लोकाः शीर्षक अप्रकाशित कृतिके उक्त सरस्वती भण्डारमें होनेकी सूचना पो० कण्ठमणि शास्त्रीने दी है[3]।

श्रीविट्ठलनाथकृत श्रीवल्लभाष्टकम् तथा श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतम् नामसे प्रसिद्ध सप्तश्लोकी में श्रीवल्लभाचार्यकी प्रशस्ति है और सर्वोत्तमस्तोत्रम् में उनके १०८ नाम तथा उनके पाठका फल निरूपित किया गया है। इन कृतियोंके कई संस्करण मुद्रित हो चुके हैं। श्रीवि० च० (पृष्ठ ५१) में श्रीविट्ठलनाथको श्रीवल्लभनामावलीका कर्ता कहा गया है किन्तु बृ० स० (पृष्ठ २८०-२८४) में श्रीवल्लभाचार्यके एक सौ-आठ नामोंकी निरूपिका जो नामावली मुद्रित मिलती है उसे वहाँ श्रीहरिरायकृत कहा गया है। इसके प्रथम श्लोक[4] से भी यही सूचित होता है कि यह श्रीविट्ठलनाथकृत नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीहरिरायकृत इस नामावलीको श्रीपरीखने प्रमादवश

---

१. इसे पो० कण्ठमणि शास्त्रीने प्रमादवश अष्टक कहा है। (द्रष्टव्य, शु० पु० सं० बा०, खण्ड २ पृष्ठ २००)।

२. शु० पु० सं० बा०, खण्ड २, पृष्ठ १८०.

३. वही, पृष्ठ १८८.

४. श्रीवल्लभाख्य-स्व-स्वामिनामानि स्वीयतुष्टये। यथामति वदिष्यामि तदाश्रितजनाश्रितः॥

श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंकी सूचीमें समाविष्ट कर लिया है क्योंकि श्रीविट्ठलनाथ सर्वोत्तमस्तोत्रमें श्रीवल्लभाचार्य के १०८ नामों का निरूपण कर चुकनेके बाद उनके १०८ नामोंकी एक अन्य नामावली लिखें यह सम्भव नहीं लगता।

श्रीविट्ठलनाथकी कुछ अन्य कृतियोंका उल्लेख अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय (पृष्ठ ७६-७७) में स्फुट स्तोत्रादि तथा श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृष्ठ १०) में प्रकीर्णस्तोत्र शब्दसे किया गया है। बृ० स० में श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंके अन्तर्गत सर्वप्रथम मङ्गलाचरणम् शीर्षकसे एक चतुःश्लोकी मुद्रित मिलती है जिसका प्रथम श्लोक[१] नवरत्नकी श्रीविट्ठलनाथकृत प्रकाशव्याख्या का मङ्गल श्लोक है और तृतीय श्लोक[२] श्रीविट्ठलनाथकृत द्वितीय विज्ञप्तिसे तेईसवें पद्य[३]का अपपाठ है। इसके दूसरे श्लोकमें श्रीमद्वल्लभनन्दनकी वन्दना[४] देखकर कुछ लोग इसके श्रीविट्ठलनाथकृत होनेमें सन्देह करते हैं किन्तु साम्प्रदायिक विद्वान् यहाँ इस पदको श्रीविट्ठलनाथके अग्रज श्रीगोपीनाथका वाचक मानते हैं। चतुर्थ श्लोक[५] सम्प्रदायमें प्रसिद्ध उस श्लोक[६] का रूपान्तर है जिसे श्रीवल्लभाचार्यके काशीमें आसुरव्यामोहलीला करनेके समय भगवान् द्वारा उपदिष्ट माना जाता है। इस प्रकार यह मङ्गलाचरण श्रीविट्ठलनाथकी स्वतन्त्र कृति न होकर किसी परवर्ती व्यक्ति द्वारा सङ्कलित प्रतीत होता है।

इसी प्रकार गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित मूल विज्ञप्तिस्तोत्र के प्रारम्भमें श्रीविट्ठलनाथकृत कहकर मुद्रित किये गये पञ्चश्लोकात्मक मङ्गलाचरण को भी उनकी स्वतन्त्र कृति न मानकर किसी परवर्ती द्वारा सङ्कलित मानना ही उचित प्रतीत होता है क्योंकि इनमेंसे चतुर्थ श्लोक गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमकृत अणुभाष्य-प्रकाशका मङ्गलाचरण है तथा द्वितीय एवं तृतीय पद्य श्रीमद्भागवतकी श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी टीकाके मङ्गलश्लोक हैं। प्रथम श्लोक[७]पर गोस्वामी श्रीहरिरायकी संस्कृत व्याख्या मिलती है जिसमें इसे श्रीमत्प्रभुचरणकी कृति कहा गया है। पञ्चम

---

१. चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः। स्वीयानां तान्निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥
२. यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम। अतएवास्ति मच्चिन्तमैहिके पारलौकिके॥
३. यदुक्तं तातचरणैः श्रीकृष्णः शरणं मम। तत एवास्ति नैश्चिन्त्यमैहिके पारलौकिके॥
४. यदनुग्रहतो जन्तुः सर्वदुःखातिगो भवेत्। तमहं सर्वदा वन्दे श्रीमद्वल्लभनन्दनम्॥
५. मम चित्तस्य विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे। यदा तदा कृतार्थोऽहं शोचनीयो न कर्हिचित्॥
६. मयि चेदस्ति विश्वासः श्रीगोपीजनवल्लभे। तदा कृतार्था यूयं हि शोचनीयं न कर्हिचित्॥
७. भावैरङ्कुरितं महीमृगदृशामाकल्पमासञ्चितैः;
प्रेम्णा कन्दलितं मनोरथमयैः शाखाशतैः सम्भृतम्।
लौल्यैः पल्लवितं, मुदा कुसुमितं, प्रत्याशया पुष्पितम्;
लीलाभिः फलितं भजे व्रजवनीशृङ्गारकल्पद्रुमम्॥

पद्य[१] 'सौन्दर्यपद्य' के नामसे प्रसिद्ध है और इसके श्रीविट्ठलनाथकृत होनेमें कोई सन्देह नहीं है। यह कई व्याख्याओं सहित प्रकाशित हो चुका है।

श्रीविट्ठलनाथकी सेवासम्बन्धी एक कृति **सेवाश्लोकाः** या **सेवाशिक्षा** के नामसे प्रसिद्ध है और जेठानन्द आसनमल ट्रस्ट, बम्बईसे प्रकाशित सहस्त्रीभावनाके परिशिष्टके रूपमें मुद्रित हो चुकी है। ८९ श्लोकोंकी इस कृतिमें प्रातःसे लेकर शयनकालपर्यन्त भगवत्सेवाका सरस निरूपण उपलब्ध होता है[२]। गो० श्रीवि० (पृष्ठ ८) में इसका उल्लेख 'सेवाश्लोक' के नामसे किया गया है। पं० कण्ठमणि शास्त्रीने श्रीविट्ठलनाथकी सेवासम्बन्धी एक अप्रकाशित कृति **सेवानुकूलविधानम्** के कांकरोलीके सरस्वतीभंडारमें होनेका उल्लेख किया है[3]। उन्होंने **पुरुषोत्तमप्रतिष्ठा** नामक श्रीविट्ठलनाथकी एक अन्य कृतिके कांकरोली के सरस्वती भंडारमें होनेका उल्लेख करते हुए लिखा है कि 'पुरुषोत्तम-प्रतिष्ठा-प्रकारः' नामसे यह ग्रन्थ 'पुष्टिभक्ति-सुधा' में प्रकाशित हुआ था[४]।' उसका उल्लेख श्रीवि० च० (पृष्ठ ५१) और गो० श्रीवि० (पृष्ठ ८) में भी मिलता है। श्रीकण्ठमणि शास्त्रीने **'स्वमार्गीयसाधनरहस्यम्'** शीर्षक उनके एक अन्य अप्रकाशित ग्रन्थके कांकरोलीके सरस्वतीभण्डारमें होनेकी चर्चा की है[५]। श्रीवि० च० (पृष्ठ ५०) में उनकी सेवानिकुञ्ज और **गद्यार्थ** नामक दो अन्य कृतियोंका उल्लेख किया गया है। जयपुरनरेशके पोथीखानामें उनकी **'सेवार्थः'** नामक कृतिकी पाण्डुलिपि सुरक्षित है[६]।

बृ० स० के पृष्ठ १५२-१५३ पर छपी चार छन्दोंकी कृति **राजभोगारार्तिकार्या** को तथा पृष्ठ १५८-१५९ पर मुद्रित **भुजङ्गप्रयाताष्टकम्** को भी—जैसा कि इनकी पुष्पिकाओंसे ज्ञात होता है—कुछ लोग श्रीविट्ठलनाथकृत न मानकर श्रीवल्लभाचार्य-कृत मानते हैं किन्तु पूर्वोक्त राजभोगारार्तिकार्याकी रचना, श्रीवि० च० (पृष्ठ ५६) के अनुसार श्रीविट्ठलनाथजीने दस वर्ष की वयमें अडेलमें की थी। बृ० स० में (पृष्ठ १५०-१५१ पर) मुद्रित **मङ्गलारार्तिकार्या** की रचना श्रीवि० च० (पृष्ठ ५६) के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने अष्टछापके कवि श्रीपरमानन्ददासके लिए गोकुलमें की थी। बृ० स० के पृष्ठ १५३ पर **सन्ध्यारार्तिकार्या** शीर्षकसे मुद्रित चार छन्दोंकी कृतिको पुष्पिकामें श्रीविट्ठलनाथकृत बताते हुए यह कहा गया है कि इसे कुछ लोग श्रीरघुनाथ

---

१. सौन्दर्यं निजहृद्गतं प्रकटितं स्त्रीगूढभावात्मकम्;
पुंरूपञ्च पुनस्तदन्तरगतं प्रावीविशत् स्वप्रिये।
संश्लिष्टावुभयोर्बभौ रसमयः कृष्णो हि यत्साक्षिकम्;
रूपं तत् त्रितयात्मकं परमभिध्येयं सदा वल्लभम्॥

२. द्रष्टव्य, शु० पु० सं० वा०, खण्ड २, पृष्ठ २२९-२३०.
३. द्रष्टव्य, वही, पृष्ठ २३०.
४. शु० पु० सं० वा खण्ड २, पृष्ठ ९०.
५. वही, पृष्ठ ९५.
६. Literary Heritage of the Rulers etc., p. 268.

—जो श्रीविट्ठलनाथके पाँचवें पुत्र थे—की कृति मानते हैं। इसकी टेक **'रतिरस्तु सदा वल्लभतनये'** से कभी-कभी इसके वल्लभतनय श्रीविट्ठलनाथकृत होनेमें सन्देह प्रकट किया जाता है किन्तु सम्प्रदायके कुछ विद्वानोंके अनुसार यह कृति निश्चय ही प्रभुचरणकी ही है और यहाँ वल्लभतनयसे श्रीविट्ठलनाथ अभिप्रेत नहीं हैं। श्रीविट्ठलनाथकृत **शयनारार्तिकार्या** भी बृ० स० (पृष्ठ १५४) में मुद्रित[1] मिलती है। श्रीवि० च० (पृष्ठ ५० में) उनकी **श्रृङ्गारार्तिकार्या** का भी उल्लेख है। डॉ० दासगुप्तकी कृतिमें (पृष्ठ ३७७ पर) उल्लिखित **आर्या** ग्रन्थसे अभिप्राय सम्भवतः इन्हीं रचनाओंसे है। **श्रीवल्लभवंशवृक्ष** (पृष्ठ १०) में इन्हें ही **आर्याएँ** कहा गया है।

बृ० स० में (पृष्ठ १५१ पर) मुद्रित **'प्रेङ्खपर्यङ्कशयन इत्यादि पर्यङ्क'** अर्थात् पालना-गीत की रचना श्रीवि० च० (पृष्ठ ५६) के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने गोकुलमें सूरदासजीके लिए की थी। उनका एक अन्य पालना-गीत **'लालयति दोलिकामञ्च-शयनम्'** इत्यादि बृ० स० में (पृष्ठ २२६ पर) **द्वितीयपर्यङ्कः** शीर्षकसे मुद्रित मिलता है।

श्रीविट्ठलनाथकृत **उत्सवनिर्णय**—जिसे अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय (पृष्ठ ७६-७७) में **निर्णयग्रन्थ** तथा श्रीवल्लभवंशवृक्ष (पृष्ठ १०) में **उत्सवनिर्णयग्रन्थ** कहा गया है—का **उल्लेख** श्रीपुरुषोत्तमने जन्मप्रकरण सुबोधिनी और उसकी टिप्पणी की अपनी प्रकाशव्याख्यामें[2] किया है। **उत्सवनिर्णयके** अन्तर्गत आने वाली **जन्माष्टमीनिर्णय** तथा **रामनवमीनिर्णय** नामक कृतियोंमेंसे प्रथम, जन्माष्टमीनिर्णयकी रचना श्रीवि० च० (पृष्ठ ५६-५७) के अनुसार श्रीविट्ठलनाथने मथुरामें की थी। इन दोनों कृतियोंके एकसे अधिक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। शुद्धाद्वैत पुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय (प्रथम खण्ड, पृष्ठ २३८) में पो० कण्ठमणि शास्त्रीने श्रीविट्ठलनाथकी **दोलोत्सवनिर्णयसूचनापत्रम्** नामक उत्सवसम्बन्धी कृतिका उल्लेख करते हुए बताया है कि यह प्रकाशित हो चुकी है।

श्रीविट्ठलनाथकृत कुछ स्फुट पद्य परवर्ती ग्रन्थोंमें उद्धृत मिलते हैं। दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्तामें नागजी भट्टको श्रीविट्ठलनाथ द्वारा पत्रमें लिख कर भेजे गये दो श्लोक उपलब्ध होते हैं[3]। इनमेंसे एक[4] श्लोकको श्रीबालकृष्णभट्टने

---

१. इसे श्रीवि० च० पृष्ठ ६३ में श्रीरघुनाथकृत बताया गया है।

२. इदं यथा तथा उत्सवनिर्णयान्तर्गतजन्माष्टमीनिर्णयविवरणे सम्यक् प्रपञ्चितमिति ततोऽवधेयम्।
(सुबो० टि० प्रकाशः १०।३।४७)।

३. दो० वार्ता, खण्ड १, पृष्ठ २४.

४. श्रीवल्लभाचार्यमते फलं तत्प्राकट्यमत्राव्यभिचारिहेतुः।
प्रेमैव तस्मिन्नवधोक्तभक्तिस्तत्रोपयोगोऽखिलसाधनानाम्॥

सेवाकौमुदीमें उद्धृत किया है। इसी प्रकार पूर्वोक्त नागजी भट्टकी वार्तामें दो श्लोक[१] एवं पुरुषोत्तमदासकी वार्तामें एक श्लोक[२] श्रीविट्ठलनाथकी कृतिके रूपमें उद्धृत है।

श्रीविट्ठलनाथका एक पत्र 'आत्मसुतेभ्यः पत्रम्' शीर्षकसे बृ० स० (पृष्ठ १६९-१७०) में प्रकाशित हुआ था। विद्वन्मण्डनम् की भूमिकामें (पृष्ठ २ पर) श्रीतेलीवालाने श्रीविट्ठलनाथजी द्वारा अपने ज्येष्ठ भ्राताको लिखा गया एक पत्र छापा है। उनके अनुसार श्रीविट्ठलनाथने नागजी भट्टको जो पत्र लिखे थे उनमेंसे कुछकी मूलप्रति श्रीनाथद्वारमें सुरक्षित है[३]। उनके कुछ अन्य पत्र भी उपलब्ध हैं।

इन सबके अलावा पं० हरिशङ्कर शास्त्रीने (गो० श्रीवि० पृष्ठ ६ में) श्रीविट्ठलनाथकी **चौरचर्या** तथा **चौर्यस्वरूपनामलीला** नामक दो अन्य कृतियोंका उल्लेख किया है। इसी प्रकार डॉ० दासगुप्तने उनकी कृतियोंमें ध्रुवापदटीका, भगवतस्वतन्त्रता, शिक्षापत्र, षट्पदी और समयप्रदीप को भी गिनाया है[४] किन्तु उनके एतत्सम्बन्धी वाक्यों या मत की प्रामाणिकता नितान्त सन्देहास्पद है यह उनकी कुछ उक्तियोंके अधोलिखित विवेचनसे स्पष्ट हो जायेगा।

डॉ० दासगुप्तने अपनी कृतिमें पृष्ठ ३७७ पर **सेवाकौमुदी** को भी श्रीविट्ठलनाथकी कृति बताया है किन्तु पृष्ठ ३७५ पर वे स्वयं लिखते हैं, "Bālakṛṣṇa Dīkṣita....worte···a commentary on the Subodhinī (the Subodhinī yojana—nibandha—yojana Sevākaumudī) ···" उनके इस वाक्य का सीधा अर्थ है कि बालकृष्ण दीक्षितने सुबोधिनीकी टीका लिखी है और उस टीकाका नाम **सुबोधिनी–योजन–निबन्ध–योजन सेवाकौमुदी** है। डॉ० दासगुप्तकी अन्य अनेक भूलोंके समान ही यह भी एक तथ्यसम्बन्धी भूल है। वस्तुतः सुबोधिनी-योजना (श्रीमद्भागवतकी सुबोधिनीटीकाकी श्रीबालकृष्णभट्टकृत व्याख्या), निबन्ध-योजना (श्रीवल्लभाचार्यकृत तत्त्वार्थदीपनिबन्धकी श्रीबालकृष्णभट्टकृत व्याख्या) तथा सेवाकौमुदी (पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवाके स्वरूप और विषयका प्रतिपादन करने वाली श्रीबालकृष्ण भट्टकी स्वतन्त्र कृति) श्रीबालकृष्णभट्ट दीक्षित–जो सम्प्रदायमें श्रीलालूभट्टके नामसे प्रसिद्ध हैं–की तीन अलग-अलग कृतियाँ हैं। सेवाकौमुदी श्रीरमानाथशर्माकृत हिन्दीभाषान्तरसहित श्रीबालकृष्ण शुद्धाद्वैत संस्कृत पुस्तकालय बम्बईसे सन् १९१९ ई० में प्रकाशित हो चुकी है। इसके प्रथमप्रकरणमें यह प्रतिपादित किया गया है कि पुष्टिभक्तिमार्गीय सेवा श्रीमद्भागवतमूलिका है और

---

१. दो० वार्ता, खण्ड १, पृष्ठ २२. २. वही, खण्ड १, पृष्ठ ३६५.

३. Śrī Viṭṭhaleshvara and his Vidvan-maṇḍana (i.e. Introduction to Vidvanmaṇḍana) p. 2.

४. A History of Ind. Phil. Vol. IV., p. 377.

द्वितीय प्रकरणमें यह सिद्धान्त निर्धारित किया गया है कि इस सेवाके विषय परमकाष्ठापन्न निर्गुण ब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। पुस्तकमें पृष्ठ ७० पर इसे श्रीविट्ठलेश्वरचरणानुचरसेवक श्रीलाल्लूभट्टोपनामक दीक्षितश्रीबालकृष्णभट्टविरचित कहे जानेसे तथा पृष्ठ २९-३० पर आये 'अस्यार्थस्तु प्रभुचरणैर्व्याख्यातः। बोधसौकर्याय तदनुसारेणेहापि लिख्यते।' इस वाक्य एवं पृष्ठ ४७ पर आये 'इति विद्वन्मण्डने निरूपितं प्रभुचरणैः।' इस वाक्यसे यह निश्चित हो जाता है कि यह श्रीबालकृष्ण भट्टकी स्वतन्त्र रचना है और इसे श्रीविट्ठलनाथकी कृति कहना डॉ० दासगुप्तकी ग़लती है।

इसी प्रकार डॉ० दासगुप्तने अपनी कृति (भारतीय दर्शनका इतिहास, भाग चतुर्थ) के पृष्ठ ३७७ पर श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंमें नामचन्द्रिका का उल्लेख किया है किन्तु पृष्ठ ३७४ पर उन्होंने लिखा है कि नामचन्द्रिका पुरुषोत्तमनामसहस्र की रघुनाथकृत टीकाका नाम है (Raghunātha......wrote......a commentary on *Puruṣottama-nāma-sahasra*, the *Nāma-candrikā*.) और आगे चलकर पृष्ठ ३८० पर वे लिखते हैं कि रघुनाथ—जिनका जन्म १५५७ में हुआ था—ने वल्लभके भक्तिहंस पर नामचन्द्रिका नामकी टीका लिखी (Raghunātha, born in 1557, wrote the commentary *Nāma*-candrikā on Vallabha's *Bhakti-haṃsa*.)। अवधेय है कि अपने प्रकाशनोंमें मुद्रणकी अशुद्धियाँ न रहने देनेके लिए प्रसिद्ध इंग्लैण्डके अग्रणी प्रकाशन कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेसकी सिन्डीकेट (के सदस्यों) द्वारा प्रकाशित डॉ० दासगुप्तकी इस कृतिमें भी कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेसके अन्य अनेक प्रकाशनोंकी भाँति ही कोई शुद्धिपत्र नहीं दिया गया है जिसका सीधा-सा अर्थ यही होता है कि प्रकाशकोंकी दृष्टिमें ग्रन्थमें मुद्रणमें कोई भूल नहीं हुई है। किन्तु वास्तविकता यह है कि इस कृतिमें विभिन्न प्रकारकी अशुद्धियोंकी भरमार है[1]। डॉ० दासगुप्तके उपर्युक्त रूपमें मुद्रित इन परस्परविरोधी एवं भ्रामक वाक्योंके सम्बन्धमें हमें केवल यही कहना

---

१. पृष्ठ ३७६ तथा ३८० पर अनेकशः पञ्चपद्यानि को पञ्चपाद्य, पृष्ठ ३७७ पर एकसे अधिक बार विद्वन्मण्डन को विद्यामण्डन, पृष्ठ ३७९ पर तत्त्वार्थदीपनिबन्ध को तत्त्वार्थदीपिका, प्रस्थानरत्नाकरको प्रार्थनारत्नाकर, वेदान्ताधिकरणमाला को वेदान्तकरणमाला तथा सुबोधिनीबुभुत्सुबोधिका को सुबोधिनीबुभुत्रबोधिनी, पृष्ठ ३८१ पर विद्वन्मण्डन को विद्वानमण्डन और शुद्धाद्वैतमार्तण्ड को सिद्धाद्वैतमार्तण्ड लिखना एवं उसी पृष्ठ ३८१ पर श्रीविट्ठलनाथके कनिष्ठपुत्र श्रीघनश्याम—जिनका जन्म कार्तिक कृष्णत्रयोदशी वि० सं० १६२८ तदनुसार सन् १५७१ ई० में हुआ था—को श्रीविट्ठलनाथका पौत्र और सन् १५७४ ई० में उत्पन्न बताना तथा इसी प्रकार पृष्ठ ३७९ पर श्रीविट्ठलनाथके प्रपौत्र श्रीयदुपति—जिनका जन्म श्रीविट्ठलनाथके लीलाप्रवेश (वि० सं० १६४२) के २१ वर्ष बाद मार्गशीर्ष कृष्णप्रतिपदा वि० सं० १६६३ में हुआ था—के पुत्र (और श्रीपुरुषोत्तमके पिता) श्रीपीताम्बरको श्रीविट्ठलनाथका शिष्य बताना कुछ ऐसी ग़लतियाँ हैं जिन्हें हम इन पाँच पृष्ठों (३७६-३८१) में ही हुई अनेक ग़लतियोंमेंसे उदाहरणके लिए चुन सकते हैं।

है कि श्रीविट्ठलनाथके पञ्चम पुत्र श्रीरघुनाथका जन्म कार्तिक शुक्लद्वादशी वि० सं० १६११ तदनुसार सन् १५५४ ई० को हुआ था (न कि सन् १५५७ ई० में)[१]। भक्तिहंस श्रीविट्ठलनाथकी रचना है (न कि वल्लभकी), भक्तिहंसकी श्रीरघुनाथकृत टीकाका नाम भक्तितरङ्गिणी है (न कि नामचन्द्रिका) और—जैसाकि स्वयं डॉ० दासगुप्तने (पृष्ठ ३७४ पर) स्वीकार किया है—पुरुषोत्तमसहस्रनामकी नामचन्द्रिकाटीका श्रीरघुनाथकी कृति है (न कि श्रीविट्ठलनाथकी)।

भक्तिहेतुनिर्णयका प्रतिपाद्य

जैसा कि प्रस्तुत कृतिके 'भक्तिहेतुनिर्णय' नाम एवं उपसंहारके, '**निर्णीतवान् भक्तिहेतुं निगूढाशयविट्ठलः**' इस कथन से ही सूचित होता इसकी रचनाका मुख्य प्रयोजन भक्ति—जिसके स्वरूपका निर्धारण ग्रन्थकार पहले ही अपनी भक्तिहंस नामकी कृतिमें कर चुके हैं—के कारणका निर्धारण करना है और श्रीविट्ठलनाथने इस ग्रन्थके मङ्गलाचरणमें ही '**तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिञ्च नुमः**' कह कर 'भक्ति भगवदनुग्रहैकलभ्य है अर्थात् भक्तिका कारण भगवदनुग्रह है, इस निर्णीत सिद्धान्तका उल्लेख कर दिया है। शेष समग्र ग्रन्थमें इसी सिद्धान्तकी ऊहापोहपूर्वक पुष्टि की गयी है।

ग्रन्थके प्रारम्भमें पूर्वपक्षी भक्तिका कारण भगवदनुग्रहको माननेके सिद्धान्तीके मङ्गलाचरणमें उल्लिखित मतको शब्दप्रमाणविरुद्ध बताता हुआ अपने कथनको प्रमाणित करनेके लिए श्रीमद्भागवतके दसवें और ग्यारहवें स्कन्धके वे श्लोक उद्धृत करता है जिनमें स्वधर्माचरण, भगवत्पूजन, दान आदिसे भक्ति प्राप्त होनेका उल्लेख है। तदनन्तर वह अपने पक्षको पुष्ट करनेके लिए इस सम्भावनाका निषेध करता है कि उसके द्वारा उद्धृत श्रीमद्भागवतके वाक्योंमें धर्माचरण आदिको भक्तिका कारण केवल इस अर्थमें कहा गया है कि वे भक्तिकी उत्पत्तिमें स्वरूपयोग्यताके सम्पादक हैं। उसके अनुसार भक्तिकी उत्पत्तिके लिए अपेक्षित स्वरूपयोग्यताके लिए जीव होना ही पर्याप्त है उसके लिए धर्माचरणादिरूप आगन्तुक गुणोंकी अपेक्षा नहीं है।

अब पूर्वपक्षी धर्माचरणको भक्तिका कारण माननेके अपने मतमें विपक्षी द्वारा उद्भावित दोषका निराकरण करनेके लिए विपक्षीके इस तर्कका उत्तर देनेमें प्रवृत्त होता है कि धर्माचरण करने वालोंमें भी कभी-कभी भक्तिका अभाव उपलब्ध होनेके कारण धर्माचरणको भक्तिका कारण माननेमें व्यभिचाररूप दोष आता है, इसलिए धर्माचरणको भक्तिका कारण माननेका पूर्वपक्षीका मत युक्तियुक्त और अनुभवसिद्ध नहीं माना जा सकता। विपक्षीके उपर्युक्त तर्कके उत्तरमें पूर्वपक्षी अनुग्रहसहकृत

---

१. देखें, वंशावली, पृष्ठ ८५ तथा १९६.

धर्माचरणको भक्तिका कारण मानकर धर्माचरणको भक्तिकी उत्पत्तिका मुख्य कारण और भगवदनुग्रहको उसका सहकारी कारण बताता हुआ यह कहता है कि यद्यपि भगवदनुग्रहरूप सहकारी कारणके अभावमें धर्माचरणरूप मुख्य कारणसे भक्तिकी उत्पत्ति नहीं होती तथापि इससे यह नहीं सिद्ध होता कि धर्माचरण भक्तिकी उत्पत्तिका मुख्य कारण नहीं है, जैसे दण्ड, चक्र आदि सहकारी कारणके अभावमें मृत्तिकारूप मुख्य कारणसे घटरूप कार्यको उत्पत्ति नहीं होती किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि मृत्तिका घटका मुख्य कारण नहीं है।

अभी तक अनुग्रहसहकृत धर्माचरणको भक्तिका कारण मानने वाला पूर्वपक्षी अब एक दूसरे पक्षका आश्रय लेकर सिद्धान्तीके खण्डनमें प्रवृत होता है। अब वह भगवदनुग्रहको तोषरूप (अर्थात् भगवान्की प्रसन्नता) मानकर भक्तिको उसका कारण मानता है और इस प्रकार भक्तिको अनुग्रहजन्य माननेके सिद्धान्तीके मतके विपरीत अनुग्रहको ही भक्तिजन्य बताता हुआ यह मत प्रतिपादित करता है कि धर्माचरण भक्तिको जन्म देता है (अर्थात् भक्तिका कारण है) तथा भक्तिसे भगवान् प्रसन्न होते हैं (अर्थात् भक्ति अनुग्रहका कारण है)। अपने इस मतकी पुष्टिके लिए वह श्रीमद्भागवतके सप्तम स्कन्धके वे श्लोक उद्धृत करता है जिनमें भगवान्के भक्तिसे ही प्रसन्न होनेका उल्लेख किया गया है।

अब पूर्वपक्षी अपने पक्षमें विपक्षी द्वारा बताये गये दोषोंका निराकरण करता हुआ अपने मतकी पुष्टि करता है। सर्वप्रथम वह विपक्षीके इस तर्कका उत्तर देता है कि धर्माचरणरहित व्यक्ति भी भक्त होते देखे गये हैं अतः धर्माचरणको भक्तिका (नियतपूर्ववर्ती न होनेसे भक्तिका) कारण नहीं माना जा सकता। इसके उत्तरमें प्रतिपक्षीका यह कहना है कि जिन व्यक्तियोंमें इस जन्ममें धर्माचरण नहीं देखा गया है किन्तु भक्ति पायी गयी है उनके बारे में यह समझना चाहिए कि उन्होंने पूर्वजन्मोंमें धर्माचरण किया होगा जिसके फलस्वरूप उन्हें इस जन्ममें भक्ति प्राप्त हुई है। इसी प्रसङ्गमें, 'पूर्वजन्मोंमें किये गये धर्माचरणसे भक्ति प्राप्त होती है, यह मत शब्दप्रमाण-सिद्ध है,' यह प्रतिपादित करता हुआ पूर्वपक्षी, अपने इस कथनकी पुष्टिके लिए, प्रमाणवाक्योंका उल्लेख करता है।

तदनन्तर पूर्वपक्षी अपने विपक्षी द्वारा सुझायी गयी कुछ अन्य सम्भावनाओंका निराकरण करता है। उसके विपक्षीका कहना है कि पूर्वपक्षीको धर्माचरणादिको भक्तिकी उत्पत्तिका कारण माननेके बजाय यह मानना चाहिए कि धर्माचरणसे भगवदनुग्रह होता है और भगवदनुग्रहसे भक्तिकी प्राप्ति होती है क्योंकि धर्माचरण भगवदनुग्रहका ही साक्षात् कारण है, भक्तिकी उत्पत्तिमें तो उसकी कारणता परम्परया (अर्थात् अनुग्रहद्वारा) ही स्वीकार की जा सकती है। अतः धर्माचरणको अपने

अव्यवहित कार्यरूप अनुग्रहका कारण मानना ही युक्तियुक्त है न कि अपने व्यवहित कार्यरूप (अर्थात् अपने अव्यवहित कार्य अनुग्रहके कार्यरूप) भक्तिका कारण मानना। अपने विपक्षीके उपर्युक्त कथनके विरुद्ध पूर्वपक्षीका यह कहना है कि विपक्षीके धर्माचरणादिको अनुग्रहका साक्षात् कारण तथा अनुग्रहद्वारा (परम्परया) भक्तिजनक माननेके मतका प्रतिपादन करने वाला कोई प्रमाणवाक्य उपलब्ध नहीं है जब कि पूर्वपक्षी धर्माचरणादिको भक्तिकी उत्पत्तिका साक्षात् कारण माननेके अपने मतकी पुष्टि करने वाले प्रमाणवाक्य पहलेही उद्धृत कर चुका है। ऐसी स्थितिमें शब्द प्रमाणसे पुष्ट होनेके कारण पूर्वपक्षीका मत ही ग्राह्य हो सकता है, उसके विपक्षीका शब्दप्रमाणके आधारसे विरहित मत नहीं।

अब पूर्वपक्षी धर्मको अनुग्रहका हेतु माननेवालोंके मतमें अनुग्रहके स्वरूपसे सम्बन्धित दोष बताते हैं। वे अनुग्रहके धर्मान्तररूप या फलदित्सारूप होनेके दो विकल्प बताकर इन दोनोंमें दोष दिखाते हुए अनुग्रहको नित्य न मानकर जन्य एवं अनियत मान लेनेपर होनेवाले दोषोंका निरूपण करते हैं। तदनन्तर वे श्रीमद्भागवतके वाक्य उद्धृतकर भक्तिको अनुग्रहेतरसाधनसाध्य न माननेसे उन वाक्योंका विरोध होनेका तर्क देते हैं। एक अन्य युक्ति देते हुए वे कहते हैं कि भक्तिको भगवदनुग्रहैक-लभ्य माननेसे भक्तिप्राप्तिके इच्छुक लोगोंमें सदाचारके नष्ट हो जानेका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा। इस प्रकार पूर्वपक्षीके मतके अनुसार निष्कामभावसे चिरकालपर्यन्त वर्णाश्रमधर्मोंका आचरण करनेसे सत्त्वशुद्धि होती है जिससे यह ज्ञात होता है कि शास्त्रोंमें भगवद्भक्तिको ही परमपुरुषार्थ बताया गया है। तदनन्तर भगवद्भक्तिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे वर्णाश्रमधर्मोंका आचरण करनेसे भक्ति प्राप्त होती है। भक्तिसे प्रसन्न होकर भगवान् अनुग्रह करते हैं और भगवदनुग्रहसे मुक्ति मिलती है। इस तरह धर्माचरण भक्तिका, भक्ति अनुग्रहका और भगवदनुग्रह मुक्तिका कारण है। यह महापूर्वपक्ष है।

इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि धर्माचरणसे चित्तशुद्धि होनेपर जो लोग भक्तिमार्गैकनिष्ठ हो जाते हैं उनकी भक्तिमें आद्यप्रवृत्ति अन्यथा उपपन्न न होनेसे भगवदनुग्रहैकमूलक है ऐसा पूर्वपक्षीको भी स्वीकार करना चाहिए।

पूर्वपक्षीका कथन है कि सिद्धान्ती अनुग्रहरूप सहकारी कारणके होनेपर सत्त्वशुद्धिसे भक्ति उत्पन्न होनेकी बात मानकर प्रकारान्तरसे उसीके मतकी पुष्टिकर रहे हैं। उत्तरमें सिद्धान्ती भक्तिकी उत्पत्तिके लिए अपरिहार्य होनेके कारण अनुग्रहको ही भक्तिका कारण मान लेनेको युक्तियुक्त बताते हुए कहते हैं कि इस मतमें कल्पना-लाघव भी है। श्रीमद्भागवतके वाक्य उद्धृत कर वे स्पष्ट करते हैं कि अन्वय एवं व्यतिरेक का व्यभिचार होनेके कारण वर्णाश्रमधर्माचरणजन्य सत्त्वशुद्धिआदिरूप किसी भी अनुग्रहेतर साधनको भक्तिका हेतु कथमपि नहीं माना जा सकता।

तदनन्तर सिद्धान्ती पूर्वपक्षीद्वारा उद्धृत किये जाने वालें—भक्तिकी प्राप्तिमें अनुग्रहेतर साधनोंका महत्त्व प्रख्यापित करनेवाले—वाक्योंकी अपने मतमें सङ्गति बताते हुए कहते हैं कि वे मर्यादामार्गपरक हैं। मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग तथा उनके अधिकारी भिन्न-भिन्न हैं। भक्तिको अनुग्रहैकलभ्य पुष्टिमार्गकी दृष्टिसे और इतर-साधनसाध्य मर्यादामार्गकी दृष्टिसे कहा गया है, यह समाधान देते हुए सिद्धान्ती भक्तिप्राप्तिके इच्छुक व्यक्तियोंमें सदाचारके नष्ट हो जानेका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होनेकी पूर्वोक्त आशङ्काके भी इसीसे समाहित हो जाने की बात कहते हैं। वे प्रवृत्तिको भगवदिच्छाधीन बताकर पूर्वपक्षी द्वारा बताये जाने वाले पूर्वोक्त दो अन्य दोषों—भक्तिप्राप्तिके इच्छुक व्यक्तियोंकी श्रवणादिमें निःशङ्क प्रवृत्तिका अभाव एवं प्रवृत्तिका उच्छेद—का समाधान करते हैं। तदनन्तर वे भक्तिको अनुग्रहेतर साधनोंसे असाध्य सिद्ध करनेवाले प्रमाणवाक्य उद्धृत करते हुए यह बताते हैं कि मर्यादामार्गमें भी भक्ति वस्तुतः अनुग्रहैकलभ्य ही है साधनानुष्ठानके बलसे साध्य नहीं। इस प्रकार वे भक्तिको अनुग्रहेतर साधनोंसे अप्राप्य सिद्ध करते हैं।

अब सिद्धान्ती भक्तिकी उत्पत्तिमें भगवान्की इच्छाशक्तिको सहकारी कारण और अनुग्रहको मुख्य कारण माननेके अपने मतका प्रतिपादन करते हुए एकदेशीके इस मतका खण्डन करते हैं कि भक्तिको अनुग्रहैकलभ्य माननेमें भगवदिच्छाको सहकारी कारण माननेकी भी आवश्यकता नहीं है। उनका कथन है कि कार्यमात्र भगवदिच्छाधीन है और तत्तत् कार्योंके पहले 'अमुक समयमें अमुक हेतुसे अमुक कार्यको करूँगा' इस प्रकारकी भगवदिच्छा होती है ऐसा न माननेपर एकदेशीके मतमें सभी कार्योंकी युगपदुत्पत्तिका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होता है। यहाँ एकदेशी इस अनिष्टप्रसङ्गसे बचनेके लिए एक-एक कर अनेक परिहार बताते हैं और सिद्धान्ती एकैकशः उन सभीका खण्डन कर देते हैं।

पूर्वपक्षी कहते हैं कि भगवदिच्छाको सृष्टिका कारण माननेपर या तो सभी पदार्थोंका सर्वदा अभाव मानना होगा या सभी पदार्थोंकी सर्वदा उपस्थिति माननी होगी। इसका उत्तर देते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि सृष्टिका कारण आस्तिकोंको वैसा ही मानना चाहिए जैसा श्रुतिमें कहा गया है और श्रुतिस्मृतिमें केवल भगवदिच्छाको ही सृष्टिका कारण कहा गया है। कब कहाँ किसका उत्पाद या विनाश होना है इसका निश्चय भगवान्ने सृष्टिके पहलेसे ही कर रखा है अतः भगवदिच्छाको सृष्टिका कारण माननेमें पूर्वोक्त अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता।

सिद्धान्तीके अनुसार सर्वकर्ता भगवान् ही हैं। जीवोंमें जो कर्तृत्व उपलब्ध होता है वह उनमें ब्रह्मके सम्बन्धसे ही आया है। किसी साधनविशेषमें किसी साध्यविशेषको प्राप्त करा सकनेका सामर्थ्य स्वाभाविक नहीं भगवत्कृत ही है। पूर्वपक्षी कहते हैं कि वे कार्योंमें भगवत्प्राप्ति करा सकनेकी सामर्थ्यको स्वतन्त्र न

मानकर भगवत्प्रदत्त स्वीकार कर यह कह सकते हैं, कि भगवत्प्रेरित कर्मानुष्ठान भगवद्भक्ति और भगवान्की प्राप्तिके साधन हैं। इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं कि श्रुतिमें स्पष्ट शब्दोंमें कर्मके भगवत्प्राप्तिका साधन होनेका निषेध किया गया है अतः पूर्वपक्षी द्वारा बताये जानेवाले पूर्वोक्त प्रकारसे भी कर्मोंको भगवत्प्राप्तिका साधन नहीं माना जा सकता। और भी, श्रीमद्भागवतमें भक्तोंको कालके अनधीन बताया गया है। कर्म कालमें किये जाते हैं और कालाधीन हैं। कालाधीन कर्मादिरूप साधनोंके स्वर्गादिरूप साध्य भी कालाधीन और क्षयिष्णु होते हैं। मुक्ति और भक्ति को कर्मसाध्य मान लेनेपर उन्हें भी कालाधीन एवं अनित्य स्वीकार करना होगा जो न तो प्रमाणसम्मत ही है न पूर्वपक्षीको अभीष्ट ही। अतः भक्तिको कर्मसाध्य नहीं माना जा सकता।

अन्तमें सिद्धान्ती प्रमाणरूपसे श्रीमद्भागवतसे नारदका वाक्य उद्धृत करते हुए कहते हैं कि जिनपर भगवदनुग्रह नहीं हुआ है और फलतः जिनमें भक्तिमार्गके लोकवेदातीत होनेका ज्ञान एवं विश्वास उत्पन्न नहीं हुआ है उनके लिए लोकवेदातीत भक्तिमार्गका अधिक निरूपण निरर्थक है, इसीलिए उन्होंने, जिनमें भगवदनुग्रहसे भक्तिमार्गके लोकवेदातीत होनेका ज्ञान एवं विश्वास उत्पन्न हो गया है उनके लिए, इस कृतिद्वारा अपने ज्ञानके लेशमात्रका प्रकाशन किया है।

भक्तिहेतुनिर्णयकी संस्कृतव्याख्या विवृति

भक्तिहेतुनिर्णयके प्रस्तुत संस्करणमें मुद्रित विवृतिनामक संस्कृतव्याख्या भक्तिहेतुनिर्णयके लेखक गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथके पञ्चमपुत्र श्रीरघुनाथकी कृति है। श्रीरघुनाथका जन्म (गुर्जर कार्तिकशुक्लद्वादशी) वि० सं० १६११ में हुआ था। वे अच्छे विद्वान् एवं कवि थे और उन्होंने श्रीवल्लभाचार्य तथा श्रीविट्ठलनाथ के कई ग्रन्थोंकी व्याख्या लिखनेके साथ ही स्वतन्त्र रचनाएँ भी की हैं। उनके वंशमें उनके नामके तीन अन्य विद्वान् भी हुए हैं। इनमेंसे उनके पौत्र श्रीदेवकीनन्दनात्मज श्रीरघुनाथ (जन्म, गुर्जर आषाढकृष्णैकादशी वि० सं० १६६०) की भी कई कृतियाँ मिलती हैं। इन द्वितीय श्रीरघुनाथने अपने श्रीराघवेन्द्रस्तोत्र में अपने पितामह द्वारा श्रीवल्लभाचार्यके ग्रन्थोंकी सम्यक् विवृति किये जानेका उल्लेख किया है[1]। श्रीराघवेन्द्रस्तोत्र लेखकने अपने पितामह श्रीरघुनाथ—जिनकी पत्नीका नाम श्रीमती जानकी था—को लक्ष्य करके ही लिखा है, दाशरथि रघुनाथको लक्ष्य कर नहीं, और इसे बृहत्स्तोत्रसरित्सागरमें भूलसे ही श्रीविट्ठलनाथपुत्र श्रीरघुनाथ—जो इस स्तोत्रके स्तुतिविषय हैं—की कृति मान लिया गया है। इसी प्रकार वहाँ इन द्वितीय श्रीरघुनाथकृत नामचिन्तामणिस्तोत्र—जिसमें उन्होंने अपने पिता श्रीदेवकीनन्दनके

---

१. सदा वल्लभाचार्यमार्गे प्रसक्तं पुनस्तत्कृतग्रन्थसम्यग्विवृत्या।
प्रसिद्धञ्च तत्पादपद्मे नताङ्गं भजे जानकीनायकं राघवेन्द्रम्॥ (राघवेन्द्रस्तोत्र-७)।

१०८ नाम गिनाये हैं[१]—को श्रीदेवकीनन्दनके पिता प्रथम श्रीरघुनाथकी कृति प्रमादवश ही मान लिया गया है।

श्रीवल्लभाचार्यकृत षोडशग्रन्थोंमेंसे कईपर प्रस्तुत संस्कृतव्याख्याकार श्रीरघुनाथकी व्याख्याएँ मिलती हैं। इनमेंसे **पुष्टिप्रवाहमर्यादाविवरण**, **सिद्धान्तरहस्यविवृति**, **अन्तःकरणप्रबोधविवरण**, **विवेकधैर्याश्रयदीपिका**, **श्रीकृष्णाश्रयविवरण**, **भक्तिवर्द्धिनीविवृति** और **संन्यासनिर्णयविवरण** नामक टीकाएँ मुद्रित हो चुकी हैं। उनकी **सिद्धान्तमुक्तावलीव्याख्या**के कांकरोलीके सरस्वतीभण्डारमें होनेका उल्लेख पो० कण्ठमणि शास्त्रीने किया है[२]। उनका **मधुराष्टकविवरण** भी मुद्रित हो चुका है। श्रीवल्लभाचार्यकृत पुरुषोत्तमसहस्रनामको उनकी **नामचन्द्रिका** व्याख्या श्रीमूलचन्द्र तेलीवालाने वि० सं० १९७४ में बम्बईसे प्रकाशित की थी। श्रीवल्लभाचार्यस्तुतिपरक उनके दो स्तोत्र **वह्निसूनुस्तवः** (नवश्लोकात्मक) और **श्रीवल्लभभुजङ्गप्रयाताष्टकम्** (बृ० स० पृष्ठ २२८-२३३ में) प्रकाशित मिलते हैं। श्रीविट्ठलनाथकी कृतियोंमेंसे कईपर श्रीरघुनाथने व्याख्याएँ लिखी थीं। इनमेंसे **सर्वोत्तमस्तोत्रविवरण**, **श्रीवल्लभाष्टकटीका**, **भक्तितरङ्गिणी** (भक्तिहंसकी टीका) और **विवृति** नामक भक्तिहेतुनिर्णयकी यह व्याख्या मुद्रितरूपमें उपलब्ध हैं। उनका श्रीविट्ठलनाथके १०८ नामोंका संग्राहक ३० श्लोकात्मक **नामरत्नाख्यस्तोत्र** बृ० स० (पृष्ठ २३४-२३७) में मुद्रित मिलता है। बृ० स० (पृष्ठ २२९-२३१) में मुद्रित गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथस्तुतिपरक दसश्लोकात्मक **श्रीविट्ठलेशस्तवः** को भी वहाँ उन्हींकी कृति माना गया है। बृ० स० (पृष्ठ २३१-२३२) में मुद्रित उनके **श्रीविट्ठलेशाष्टक** को पो० कण्ठमणि शास्त्रीने प्रमादवश गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथकी स्तुति समझकर आचार्यस्तोत्रके अन्तर्गत गिना है[३] किन्तु यह स्पष्टतः भगवत्परक है। बृ० स० (पृष्ठ २४९-२५१) में प्रकाशित गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथके १०८ नामोंकी मालिकारूप ३६ श्लोकात्मक **नामकौस्तुभस्तोत्र** को वहाँ प्रथम श्रीरघुनाथकृत ही माना गया है किन्तु पो० कण्ठमणि शास्त्रीने इसे उनके पौत्र द्वितीय श्रीरघुनाथकी कृति माना है[४]। उनके **श्रीगोकुलेशाष्टक**, **श्रीगिरिधार्यष्टक**, **श्रीकृष्णचन्द्राष्टक** एवं **श्रीयमुनाष्टक** भी बृ० स० (पृष्ठ २४१–२४७) में मुद्रित मिलते हैं। बृ० स० (पृष्ठ २४५-२४६) में मुद्रित उनके द्वादशश्लोकात्मक **गोपालस्तवः** में ग्यारह अवतारोंकी स्तुति है। पो० कण्ठमणि शास्त्रीने उनकी अन्य प्रकाशित कृतियोंके रूपमें **तिलकनिरूपकपद्यानि**, **यमुनाष्टपदीविवृति**, **जन्माष्टमीनिर्णयको टीका**, और **शरत्पूर्णिमानिर्णय** का उल्लेख किया है[५]।

---

१. देवकीनन्दनः श्रीमाञ्जानकीगर्भसम्भवः। रघुनाथात्मजः पुण्यः। (नामचिन्तामणिस्तोत्र-५)।
२. शु० पु० सं० वा० खण्ड २ पृष्ठ ११०. ३. वही, पृष्ठ १९५. ४. वही, पृष्ठ २१२.
५. द्रष्टव्य, शु० पु० सं० वा० खण्ड २ पृष्ठ ८८, १०५; खण्ड १ पृष्ठ २३६ एवं २३८.

भक्तिहेतुनिर्णयका प्रस्तुत संस्करण

पचास वर्षसे भी अधिक हुआ जब श्रीहरिकृष्ण वीरजी शास्त्री एवं श्रीचिमनलाल हरिशङ्कर शास्त्री ने भक्तिहेतुनिर्णयको गोस्वामी श्रीरघुनाथकृत विवृति और अपने गुजराती अनुवाद के साथ श्रीजीवनाचार्य पुष्टिसिद्धान्त कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित कराया था। इस प्राचीन संस्करणको गुरुवर गोस्वामिश्रीदीक्षितजीमहाराजकी आज्ञासे ज्यों-का-त्यों पुनर्मुद्रित कर श्रीपुष्टिमार्गीय युवक परिषद् बम्बईसे सन् १९६० में प्रकाशित किया गया था। हमने प्रस्तुत संस्करणमें इस प्रकाशनका पूरा-पूरा उपयोग किया है और एतदर्थ हम पूर्वसंस्करणोंके सम्पादकों एवं अनुवादकों की अधमर्णता स्वीकार करते हैं; किन्तु यह संस्करण पूर्वमुद्रित संस्करणोंका प्रूफसंशोधन कर पुनर्मुद्रणमात्र नहीं है। इसमें मूलको पाठशोधनपूर्वक व्यवस्थित ढंगसे अनुच्छेदोंमें विभक्त करके छापा गया है। उद्धरणोंका आकर-स्थलनिर्देश करते हुए उन्हें एक भिन्न टाइपमें मुद्रित किया गया है जिससे पाठकों को पढ़ने-समझनेमें अधिक-से-अधिक सुविधा हो। उसके नीचे एक काली रेखासे पृथक् कर श्रीरघुनाथकृत विवृति नामकी संस्कृत व्याख्याको व्यवस्थित ढंगसे अनुच्छेद-विभाजपूनर्वक छापा गया है। इसमें भी उद्धरणोंको आकरस्थलनिर्देशपूर्वक एक भिन्न टाइपमें छापा गया है। संस्कृत-व्याख्यामें आये मूलग्रन्थके शब्दोंको व्याख्याके टाइपसे कुछ बड़े टाइपमें मुद्रित किया गया है। संस्कृत व्याख्याके नीचे एक लहरदार रेखा देकर हिन्दी-अनुवाद एवं व्याख्या दी गयी है। हिन्दी अनुवादमें भी उद्धरणोंका आकरस्थल निर्दिष्ट करते हुए उन्हें एक भिन्न प्रकारके टाइपमें मुद्रित करनेकी प्रक्रिया अपनायी गयी है। अनुवाद करनेमें यह ध्यान रखा गया है कि वह प्रामाणिक और सरल होनेके साथ-साथ मूलको समझनेमें सहायक भी हो। हिन्दी व्याख्या—जिसे हमने भक्तिहेतुनिर्णय-प्रकाशिका नाम दिया है—अनुवादकी अपेक्षा छोटे टाइपमें स्वतन्त्र अनुच्छेदोंमें मुद्रितकी गयी है और उसमें आये उद्धरणादि भी आकरस्थलनिर्देशपूर्वक भिन्न प्रकारके टाइपमें छापे गये हैं। इसमें सारी बातोंको समझाकर इस तरह कहनेकी चेष्टा की गयी है कि मूल एवं संस्कृतटीका के लेखकोंके आशयके साथ ही उनके वाक्योंको भी स्पष्टतया समझा जा सके।

ग्रन्थके अन्तमें सारे उद्धरणोंकी आकरस्थलनिर्देशपूर्वक अकारादिक्रमसे अनुक्रमणिका दी गयी है और ग्रन्थके कलेवरमें तथा इस भूमिकामें प्रयुक्त ग्रन्थोंका विवरण तथा उनके लिए प्रयुक्त सङ्केतोंकी सूची भी दी गयी है। आशा है अपने इस नवीन रूपमें यह ग्रन्थ पाठकोंको और अधिक पसन्द आयेगा।

विदुषामाश्रवः
केदारनाथ मिश्रः

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

श्रीमद्विट्ठलेश्वरप्रभुचरणविरचितः

भक्तिहेतुनिर्णयः

ब्रह्मादिदुर्लभकथं राधामानापनोदकं कृष्णम् ।

श्रीरघुनाथचरणविरचिता

भक्तिहेतुविवृतिः

नमो भक्तिरसास्वाददात्रे वल्लभसूनवे ।
कलिकल्मषघातिन्यै तद्वाण्यै च नमः सदा ॥

भक्तेः असाधारणकारणं निश्चिकीर्षवो नुतिरूपं मङ्गलम् आचरन्ति—ब्रह्मादि इति । उत्तमाधिकारिणाम् अपि ब्रह्मादीनां श्रोतुं दुर्लभा कथा यस्य । राधाया

श्रीकेदारनाथमिश्रविरचित

हिन्दी अनुवाद तथा

भक्तिहेतुनिर्णयप्रकाशिकाख्या हिन्दी व्याख्या

'चिन्तासन्तानहन्तारो यत्पादाम्बुजरेणवः ।
स्वीयानां तान्निजाचार्यान् प्रणमामि मुहुर्मुहुः ॥'
श्रीमद्वाल्लभशास्त्रमात्तवपुषं स्नेहावतारं गुरुम्;
आचार्यं कृतपुण्यपुण्यनिचयं गोस्वामिनं दीक्षितम् ।
शिष्यानुग्रहविग्रहं मतिमतां श्रद्धास्पदं सादरम्;
ध्यात्वा वैष्णवशास्त्रपद्ममिहिरं तस्यात्मजं भावये ॥
प्रणम्य विट्ठलेश्वरान् कृतो हि तैर्हितोद्यतैः—
फलात्मभक्तिरूपकारणादिकं विवेचितुम् ।
अनूद्य राष्ट्रभाषयाऽत्र भक्तिहेतुनिर्णयः;
तदात्मजप्रणीतटीकया युतः प्रकाश्यते ॥

भक्तिके असाधारण कारणका निश्चय करनेके इच्छुक श्रीविट्ठलेश प्रभुचरण ग्रन्थके प्रारम्भमें स्तुतिरूप मङ्गलाचरण करते हैं ।

तदनुग्रहैकलभ्यां भक्तिश्च नुमस्तदीयांश्च ॥ १ ॥

ननु इदम् अनेकप्रमाणविसंवादी इव भाति यद् अनुग्रहेतर-साधनासाध्यत्वं भक्तौ। तथा हि एकादशस्कन्धे एकोनविंशे,

'श्रद्धाऽमृतकथायां मे' (भाग० ११।१९।२०) इत्युपक्रम्य,
'इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ॥' (भाग० ११।१९।२३)
'एवं धर्मैः मनुष्याणाम् उद्धवात्मनिवेदिनाम्।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते ॥' (भाग० ११।१९।२४)

इत्यत्र भगवद्धर्माणां यागदानादेश्च भक्तिहेतुत्वं श्रूयते[1]।

मानं चित्तसमुन्नतिम् अपनुदति इति तथा तं **कृष्णं नुमः** स्तुम इत्यर्थः। किञ्च तस्य एव कृष्णस्य एव अनुग्रहेण एव एकेन **लभ्यां** प्राप्याम्। इदम् एव अग्रे विवादकारणसंशयबीजवाक्यं ज्ञेयम्। **भक्तिश्च नुमः तदीयांश्च**। तस्य एव अनन्यभक्तान् इत्यर्थः ॥ १ ॥

अनुग्रहेतरयागादिसाधनानाम् एव भक्तिहेतुत्वम् इतिवादी शङ्कते—**ननु** इति। **अनुग्रहैकलभ्यां भक्तिम्** इति यद्वचनम् उक्तं तत् **'श्रद्धाऽमृत-कथायां मे'** (भाग० ११।१९।२०) इत्यादिवक्ष्यमाणैः **अनेकैः** बहुभिः **प्रमाणैः** शब्दरूपैः सह **विसंवादी इव** विरुद्धार्थकम् इव **भाति** इति। **इव**शब्देन तत्त्वापरिचयः सूचितः।

हम, ब्रह्मा आदि (उत्तम अधिकारियों) को भी जिनकी कथाका श्रवण आदि दुर्लभ है और जो राधिकाके मानको दूर करने वाले हैं, उन परमात्मा श्रीकृष्ण, केवल उन (श्रीकृष्ण) के अनुग्रहसे ही प्राप्य भक्ति और उनके अनन्य भक्तों की स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

भगवदनुग्रहसे भिन्न यागादिरूप साधनोंको ही भक्तिका कारण मानने वाले पूर्वपक्षी दार्शनिकोंकी दृष्टिमें, यह कथन कि भक्ति भगवदनुग्रहके अतिरिक्त अन्य साधनों द्वारा प्राप्त नहीं होती है, अनेक प्रमाणों (अर्थात् आप्तवाक्यों) से विरुद्ध प्रतीत होता है। जैसे कि भागवतके एकादश स्कन्धके उन्नीसवें अध्यायमें, "मेरी अमृतमय कथामें श्रद्धा" (भाग ११।१९।२०) इस वाक्यसे आरम्भ करके, "यज्ञ, दान, होम, जप, मेरी प्रसन्नताके लिए किये गये व्रत और तप इस प्रकारके धर्मों द्वारा आत्म-समर्पण करने वाले मनुष्योंकी मेरे (स्वरूप) में भक्ति उत्पन्न होती है। उद्धव! (जब भक्ति प्राप्त हो जाती है तो) फिर उसे प्राप्त कर लेनेवाले भक्तको दूसरा कौन सा पुरुषार्थ प्राप्त करना बाकी रह जाता

---

१. पा० साध्यते।

तत्र एव पूजाप्रकारम् उक्त्वा,
"भक्तियोगं स लभते एवं यः पूजयेत माम् ।' (भाग० ११।२७।५३)
इति भगवता उक्तम् । दशमस्कन्धे सप्तचत्वारिंशे च,
'दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते[1] ॥' (भाग० १०।४७।२४)
इति उद्धववाक्ये दानादेः तथात्वम् उच्यते ।
'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः ।
नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते[2] ॥'
इत्यत्र पापाभावस्य अपि तथात्वम् उच्यते ।

है (अर्थात् कोई पुरुषार्थ शेष नहीं बचता, सभीकी प्राप्ति हो जाती है)" (भाग० ११।१९।२३–२४) इत्यादि वाक्योंमें भगवत्सम्बन्धी धर्म और यज्ञ तथा दान आदि को भक्तिका हेतु बताया गया है ।

फिर वहीं पर पूजाके प्रकारको बताते हुए भगवान् श्रीकृष्णने कहा है कि, "इस प्रकार जो मेरी पूजा करता है वह भक्तियोगको प्राप्त करता है ।" (भाग० ११।२७।५३) । श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके सैंतालीसवें अध्यायमें भी उद्धवके "दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय, संयम एवं दूसरे विविध प्रकारके कल्याणके साधनों द्वारा (भगवान्) श्रीकृष्णकी भक्ति प्राप्त होती है" (भाग० १०।४७।२४), इस वाक्यमें दान आदिको भक्तिका हेतु कहा गया है ।

"दूसरे हज़ारों जन्मोंमें किये गये तप, ध्यान और समाधि के द्वारा निष्पाप मनुष्योंकी श्रीकृष्णमें भक्ति उत्पन्न होती है;" इस वाक्यमें पापोंके अभावको भी भक्तिका हेतु कहा गया है ।

---

१. दानदिभिः सर्वैः कृष्णे स्नेह एव साध्यते, स चेद् कामेन एव जातः किं दानादिना, स्नेहे वैलक्षण्याभावात् । फले वैलक्षण्याभावे साधनवैजात्यम् अप्रयोजकम् । 'तदघं हित्वा' इति विशेषः तु उक्तः । **दानं** तुलापुरुषादि । **व्रतम्** एकादश्यादि । **तपः** कृच्छ्रादि । **होमः** काम्यः, अग्निहोत्रादिः अपि । **जपो** मन्त्रादिः । **स्वाध्यायो** वेदाध्ययनम्, वेद एव वा सर्वविधोऽपि । **संयमो** योगादिः । अन्यानि श्रेयांसि कूपारामादीनि । सर्वेषाम् एषाम्, 'एकस्य तु उभयत्वे संयोगपृथक्त्वम्' इति न्यायेन तत्तत्फलसाधकत्वं भक्तिसाधकत्वञ्च । **अन्यैः** इति अविहितैः अपि, **कृष्णे** सदानन्दे, तस्य एव फलत्वम् इति एतदर्थम् एव आविर्भूत इति वा । **'भक्तियोगवितानार्थम्'** इति वाक्यं **हि** शब्देन उच्यते । साध्यते इत्यनेन आत्मत्वेन नित्यस्नेहो निवारितः । (भाग० सुबो० १०।४७।२४) ।

२. यह इस श्लोकका श्रीवल्लभाचार्यसम्मत पाठ है । उनकी सुबोधिनी (१०।८।१८) में इसे इसी रूपमें उद्धृत किया गया है । **विष्णुसहस्रनामके** (श्रीरामानुजाचार्यके

एकादशे एव,

'यथाऽनुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां भवेत्।
स्वधर्मेणारविन्दाक्ष ! तन्ममाख्यातुमर्हसि[१] ॥' (भाग० ११।१७।२)

इति प्रश्ने, वर्णाश्रमधर्मान् निरूप्य,

'इति मां यः स्वधर्मेण भजेन्नित्यमनन्यभाक्।
सर्वभूतेषु मद्भावो मद्भक्तिं लभतेऽचिराद्[२] ॥' (भाग० ११।१८।४४)

इत्युपसंहारात्, पूर्वोक्तधर्माणां भक्तिहेतुत्वं निश्चीयते।

इसी प्रकार श्रीमद्भागवतके एकादशस्कन्धमें ही उद्धवके "कमलनयन ! स्वधर्मका जिस प्रकार या जिस रूपमें आचरण करनेसे मनुष्योंमें आपकी भक्तिका उदय हो सके, उसे हमें सम्यक् रूपसे बताइए" (भाग० ११।१७।२) इस प्रश्नके उत्तरमें वर्णाश्रम धर्मोंका निरूपण करते हुए उपसंहारके रूपमें कहे गये भगवान् श्रीकृष्णके "इस तरह अनन्यभाववाला जो व्यक्ति स्वधर्मके द्वारा मेरा सतत भजन करता है और सभी भूतों (प्राणियों) में मेरा भाव रखता है वह शीघ्र ही मेरी भक्तिको प्राप्त करता है" (भाग० ११।१८।४४) इत्यादि वाक्योंसे पूर्वोक्त धर्मोंके ही भक्तिके हेतु होनेका निश्चय होता है।

समकालिक विद्वान् श्रीपराशरभट्टार्य द्वारा विरचित **'भगवद्गुणदर्पण'** नामक भाष्यमें भी (पृष्ठ १६६ पर) **'महाक्रमो महाकर्मा'** इत्यादि श्लोकमें आये **'महाक्रमः'** नामकी व्याख्याके प्रसङ्गमें भक्तिकी दुर्लभताकी ओर सङ्केत करते हुए इस श्लोकको इसी रूपमें उद्धृत किया गया है। इस ग्रन्थमें संगृहीत प्रमाणोंकी आकर सूचीमें (पृष्ठ १९ पर) इसे **'लघ्वत्रिस्मृति'**का श्लोक बताया गया है। श्रीवेदान्तदेशिकके मणिप्रवाल (संस्कृत-तमिल-मिश्रित) भाषामें लिखे गये **श्रीमद्रहस्यत्रयसार**के श्री कृ० व० नील-मेघाचार्यकृत संस्कृत अनुवादमें परदेवतापारमार्थ्याधिकार में (पृष्ठ ६३ पर) भी यह श्लोक, इसी रूपमें उद्धृत मिलता है। इस कृतिके सम्पादक पं० उत्तमूर् ति० वीर-राघवाचार्यने 'संस्कृत प्रमाणाकरः' शीर्षक परिशिष्टमें (पृष्ठ २६ पर) इसे पाञ्चरात्रका श्लोक बताया है। गो० पुरुषोत्तमने सुबोधिनी (१०।४७।२४) की अपनी **प्रकाश** व्याख्यामें इसे अधोलिखित रूपमें उद्धृत किया है।

'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिर्हि जायते॥'

पूर्वमुद्रित भक्तिहेतुनिर्णय और विष्णुसहस्रनामके (श्लोक ९६ नाम संख्या ७७७, **'दुर्लभः'** के) श्रीशङ्कराचार्यकृत भाष्य—जहाँ इसे **'व्यासवचन'** कहकर उद्धृत किया गया है—के अनुसार इस श्लोकका पाठ अधोलिखित है।

'जन्मान्तरसहस्रेषु तपोज्ञानसमाधिभिः। नराणां क्षीणपापानां कृष्णे भक्तिः प्रजायते॥'

१. गीताप्रेससे प्रकाशित श्रीमद्भागवतमें मुद्रित इस श्लोकके चतुर्थ चरणका पाठ **'तत् समाख्यातुमर्हसि'** है।

२. गीताप्रेससे प्रकाशित श्रीमद्भागवतमें मुद्रित इस श्लोकके चतुर्थ चरणका पाठ **'मद्भक्तिं लभते दृढाम्'** है।

न च, 'भक्त्युत्पत्तौ स्वरूपयोग्यता-सम्पादकत्वेन धर्मेषु तद्धेतुत्वम् उपचर्यते' इति वाच्यम्, जीवत्वेन एव तत्र स्वरूप-योग्यत्वात् सर्वेषाम्, 'देवोऽसुरो मनुष्यो वा" (भाग० ७।७।५०) इति वाक्याद्, आगन्तुकधर्माणां क्वचिद् अपि तत्सम्पादक-त्वादर्शनाच्च ।

ननु, 'घटादिकार्ये यथा दण्डत्वम् एव कारणतावच्छेदकम्, न दृढत्वम्, तस्य स्वरूपयोग्यतासम्पादकत्वाद्, एवम्, अत्र अपि भक्त्युत्पत्तिं प्रति अनुग्रहस्य एव कारणत्वम्, न तु धर्मादीनाम् अपि; तेषां स्वरूपयोग्यतासम्पादक-त्वेन अन्यथा-सिद्धत्वाद् औपचारिकं कारणत्वम्' इति चेत्, तत्राह न च इति । **जीवत्वेन एव** इति । जीवत्वम् एव स्वरूपयोग्यतावच्छेदकम्, न तु धर्मादिमत्त्वम् अपि इति भावः; **'देवोऽसुरो मनुष्यो वा'** (भाग० ७।७।५०) इति सामान्येन निर्देशाद् इत्यर्थः । **आगन्तुक-**इति । साहजिका-च्छिद्रत्वादिकं घटादिषु जलाहरणादियोग्यता-सम्पादकं न तु अनन्तरोत्पन्ननील-पीतादि यथा, तथा अत्र अपि जीवत्वस्य एव तथात्वं, न धर्मवत्त्वस्य अपि इति भावः ।

इस पर सिद्धान्तीको यह नहीं कहना चाहिए कि "(जैसे घटादिरूप कार्यका कारण दण्डको ही माना जाता है दण्डकी दृढ़ताको नहीं, और दण्डकी दृढ़तामें घटादिकी कारणताका उपचार या गौण प्रयोग इसलिए होता है कि वह दण्डकी स्वरूपयोग्यताकी सम्पादक है, उसी प्रकार वर्णाश्रम धर्म आदि भक्तिकी उत्पत्तिमें स्वरूपयोग्यताके सम्पादक हैं अतः उनमें भक्तिहेतुत्वका उपचार (गौण प्रयोग) होता है (किन्तु वस्तुतः वे भक्तिके हेतु नहीं हैं)", क्योंकि श्रीमद्भागवतके, "देव, असुर, मनुष्य, (यक्ष अथवा गन्धर्व जो कोई भी हो, परमात्माके चरणोंकी भक्ति करनेपर कल्याणको प्राप्त करता है, जैसे भगवान्‌के चरणोंकी भक्तिसे हम लोगोंका कल्याण हुआ)" (भाग० ७।७।५०) इत्यादि प्रह्लाद द्वारा कहे गये वाक्यसे ज्ञात होता है कि भक्तिकी उत्पत्तिकी स्वरूपयोग्यताका सम्पादक सभी प्राणियोंमें अवस्थित जीवत्व ही है अर्थात् भक्तिकी उत्पत्तिके लिए अपेक्षित स्वरूप-योग्यताके लिए जीव होना ही पर्याप्त है, उसके लिए वर्णाश्रम धर्म आदिकी अपरिहार्य आवश्यकता नहीं है; इतना ही नहीं, वर्णाश्रम धर्म आदि तो मनुष्यके आगन्तुक गुण हैं और आगन्तुक गुण कहीं भी स्वरूपयोग्यताके सम्पादक नहीं देखे गये हैं ।

---

१. देवोऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव वा ।
भजन् मुकुन्दचरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयम् ॥ (भाग० ७।७।५०)

'धर्मवताम् अपि भक्त्यभावेन व्यभिचाराद् अकारणत्वम्" चेद् ब्रवीति भवान्, तदा धर्मसहकारित्वम् अनुग्रहस्य अङ्गीकरोतु। न हि सहकारिविरहेण कार्याभावोऽकारणतासम्पादकः, दण्डादेः अपि घटादौ तथात्वप्रसङ्गात्।

ननु, 'धर्मवत्त्वादिहेतोः भक्तिमत्त्वसाध्याभाववद्गामित्वेन व्यभिचाराद् असाधकोऽयं हेतुः', इति यत्तव मतं तन्न सम्यक् यतोऽस्माभिः अनुग्रहस्य धर्मादिसहकारित्वम् उच्यते, घटादिकार्ये दण्डादेः इव। अतः सहकार्यभावनिबन्धनकार्याभावो न कारणताहानिदः, तथा सति दण्डादेः अपि अकारणत्वं स्यात्।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार घट आदिका छिद्ररहित होना आदि सहज स्वरूप ही उसकी जलाहरणादिरूप योग्यताका सम्पादक होता है, न कि घट उत्पन्न होनेके बाद उसमें उत्पन्न होने वाला नीलत्व, पीतत्व आदि आगन्तुक गुण; उसी प्रकार जीवमें भक्ति उत्पन्न होनेकी स्वरूपयोग्यताका सम्पादक जीवका सहज जीवत्व ही है, न कि उसका धर्मत्व (अर्थात् धर्माचरणसम्पन्न होना) रूप आगन्तुक गुण भी।

अनुग्रहसहकृत धर्म भक्तिका कारण है अर्थात् भक्तिका मुख्य कारण धर्माचरणादिरूप है और भगवदनुग्रह उसका सहकारी कारण है यह मानने वाला पूर्वपक्षी, सिद्धान्ती द्वारा धर्माचरणको भक्तिका कारण माननेके मतमें दिखाये गये दोषके उद्धारका प्रकार बताते हुए अपने मतको स्पष्ट करता है।

इसपर यदि सिद्धान्ती यह कहें कि 'वर्णाश्रमादि धर्मका पालन करने वाले व्यक्तियोंमें भी कभी-कभी भक्तिका अभाव दिखाई देता है अतः वर्णाश्रम धर्मको भक्तिका कारण माननेमें व्यभिचाररूप दोष आता है, इसलिए वर्णाश्रम-धर्म आदिको भक्तिका कारण नहीं मानना चाहिए', तो इसके उत्तरमें पूर्वपक्षीका यह कहना है कि धर्म आदिको भक्तिका हेतु सिद्ध कर सकनेके लिए सिद्धान्तीको ईश्वरानुग्रहको धर्मके सहकारी कारणके रूपमें स्वीकार कर लेना चाहिए। ईश्वरानुग्रहरूप सहकारी कारणके अभावमें धर्मसे भक्तिरूप कार्यका न होना, धर्मकी भक्तिमें अकारणताको नहीं सिद्ध करता अर्थात् इससे यह नहीं सिद्ध होता कि धर्म भक्तिका कारण नहीं है क्योंकि यदि सहकारीके अभावमें कार्याभाव (अर्थात् कार्य न होने) को अकारणताका साधक मानेंगे तो दण्डादिरूप सहकारी कारणके अभावमें मृत्तिकासे घटादिरूप कार्यके न होनेपर घटादिरूप कार्यके प्रति मृत्तिकाकी भी अकारणताका प्रसङ्ग (अर्थात् मृत्तिकाको भी घटका कारण न माननेका अनिष्ट प्रसङ्ग) उपस्थित होगा।

'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित्',
'भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय[1]' (भाग० ७।९।९),
'प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम्[2]' (भाग० ७।७।५२)
इत्यादिवाक्यैः वैपरीत्यश्रवणाच्च भक्तौ धर्मसम्पत्तिः हेतुः, भक्तिः अनुग्रहे, इति युक्तम् उत्पश्यामः ।

पूर्वम् 'अनुग्रहसहकृतो धर्मो हेतुः' इति वादी, साम्प्रतम् अनुग्रहस्य तोषरूपत्वम् अङ्गीकृत्य तत्र भक्तिः हेतुः इति वैपरीत्यम् अङ्गीकृत्य, तस्यां भक्तौ धर्मो हेतुः इति अभिप्रेत्य आह—**भक्त्यैव** इत्यारभ्य **उत्पश्याम** इत्यन्तेन ।

अभी तक अनुग्रहसहकृत धर्माचरणको भक्तिका कारण मानने वाला पूर्वपक्षी अब एक दूसरे पक्षका आश्रय लेकर सिद्धान्तीके खण्डनमें प्रवृत्त होता है। अब वह भगवदनुग्रहको तोषरूप अर्थाद् भगवत्प्रसादरूप स्वीकार कर भक्तिको उसका कारण मानता है और इस प्रकार भक्तिको अनुग्रहजन्य माननेके सिद्धान्तीके मतके विपरीत अनुग्रहको ही भक्तिजन्य बताता हुआ यह मत प्रतिपादित करता है कि अनुग्रहजनक भक्तिका कारण धर्माचरण ही है।

पूर्वपक्षीका कहना है कि सिद्धान्तीने भक्तिको अनुग्रहैकलभ्य बताया है किन्तु "भगवान् विष्णु भक्तिसे ही सन्तुष्ट होते हैं किसी अन्य उपाय से नहीं", "भगवान् गजेन्द्रपर, उसकी भक्तिसे ही प्रसन्न हुए थे" (भाग० ७।९।९), तथा "भगवान् निर्मल अर्थात् अनन्य प्रयोजन वाली भक्तिसे ही प्रसन्न होते हैं, भक्तिसे भिन्न अन्य साधन तो विडम्बना मात्र हैं" (भाग० ७।७।५२) इत्यादि वाक्योंमें इससे विपरीत मत अर्थात् भगवत्प्रसादके भक्तिजन्य होनेका प्रतिपादन हुआ प्रतीत होता है, अतः ठीक तो यही प्रतीत होता है कि वर्णाश्रमादि धर्मको भक्तिका कारण और भक्तिको भगवदनुग्रहका कारण मान लिया जाए ।

अब पूर्वपक्षी अपने पक्षमें विपक्षी द्वारा बताये गये दोषोंका निराकरण करता हुआ अपने मतकी पुष्टि करता है । सर्वप्रथम वह विपक्षीके इस तर्कका उत्तर देता है कि धर्माचरणरहित व्यक्ति भी भक्त होते देखे गये हैं अतः भक्तिका नियतपूर्ववर्ती न होनेसे धर्माचरण भक्तिका कारण नहीं माना जा सकता । इसके उत्तरमें प्रतिपक्षीका यह कहना है कि जिन व्यक्तियोंमें इस जन्ममें धर्माचरण नहीं देखा गया है किन्तु भक्ति पायी गयी है उनके बारेमें यह समझना चाहिए कि उन्होंने पूर्वजन्मोंमें धर्माचरण किया होगा जिसके फलस्वरूप उन्हें इस जन्ममें भक्ति प्राप्त हुई है ।

---

१. मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभावबलपौरुषबुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥
(भाग० ७।९।९) ।

२. न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद् विडम्बनम् ॥ (भाग० ७।७।५२) ।

न च, 'धर्मरहितानामपि भक्तिदर्शनात्, नैवम्' इति वाच्यम्, कार्येण जन्मान्तरीयतदनुमानसम्भवात् ।

न च अन्योऽन्याश्रयः, वाचनिकं हि एतत्, पूर्वोक्तवाक्यैः असन्दिग्धधर्मकारणतानिश्चयात् ।

धर्मस्य अनैकान्तिकत्वम् आशङ्क्य समाधत्ते—**न च** इति । **कार्येण** इति भक्तिरूपकार्येण इत्यर्थः । **तदनुमानं** भक्तिहेतुधर्मानुमानम् ।

व्याप्तेः अव्यभिचारघटितत्वाद्, हेतोः अव्यभिचरितत्वग्रहे, जन्मान्तरीयधर्मसिद्धिः; जन्मान्तरीयसिद्ध्यधीनश्च अव्यभिचारग्रहः; इति अन्योऽन्याश्रयलक्षणो दोषो ज्ञेयः । **वाचनिकम्** इति । अन्योऽन्याश्रयदोषः तदा उच्येत यदि अनुमानैकसमधिगम्यं भक्तिहेतुत्वं धर्मस्य स्यात् । न तु एवम् अस्ति, किन्तु एतज्जन्मान्तरीयधर्मरूपकारणज्ञानं **वाचनिकं** शाब्दम् इत्यर्थः । स च शब्दो **'जन्मान्तरसहस्रेषु'** इत्यादिकः ।

प्रतिपक्षीका कहना है कि धर्माचरणको भक्तिका कारण माननेके उसके मतके विरुद्ध उसके विपक्षीका यह तर्क देना भी युक्तियुक्त नहीं होगा कि 'वर्णाश्रमधर्मके आचरणसे विरहित व्यक्तियोंमें भी (कहीं-कहीं) भक्ति देखी जाती है अतः वर्णाश्रम धर्मके आचरणको (भक्तिका नियत पूर्ववर्ती न होनेके कारण) भक्तिका कारण नहीं माना जा सकता', क्योंकि ऐसे स्थलोंपर भी कार्यरूप भक्तिके द्वारा उसके कारणके रूपमें जन्मान्तरमें किये गये धर्माचरणका अनुमान कर लेनेकी सम्भावना तो रहती ही है ।

पूर्वपक्षीके अनुसार उसके विपक्षीका यह कहना भी ठीक नहीं है कि 'वर्णाश्रमधर्मविरहित व्यक्तिमें भी भक्ति उत्पन्न होते देखकर उस भक्तिरूप कार्यके कारणके रूपमें उस व्यक्तिके द्वारा पूर्वजन्ममें वर्णाश्रम धर्मोंका आचरण किये जानेका अनुमान करनेमें अन्योऽन्याश्रय दोष होगा, क्योंकि यहाँ वर्णाश्रम धर्मके आचरणसे भक्ति उत्पन्न होनेकी सिद्धि की जा रही है और भक्तिके उत्पन्न होनेसे (पूर्वजन्ममें) वर्णाश्रमधर्मका आचरण किये गये होनेका अनुमान किया जा रहा है ।'

यहाँ पूर्वपक्षी अपने मतमें विपक्षी द्वारा बताये जाने वाले जिस अन्योऽन्याश्रयदोषके होनेकी सम्भावनाका निषेध कर रहा है उसका स्वरूप यह है कि पूर्वपक्षी वर्णाश्रमधर्मके आचरणसे भक्ति उत्पन्न होनेकी सिद्धि करता है और भक्ति उत्पन्न होनेसे (पूर्वजन्ममें) वर्णाश्रमधर्मका आचरण किये गये होनेका अनुमान करता है। श्रीरघुनाथने अपनी विवृतिमें इस अन्योऽन्याश्रय दोषका निरूपण अधोलिखित प्रकारसे किया है । अनुमान व्याप्तिपर आधारित होता है । व्याप्ति तभी प्रामाणिक होती है जब उसमें व्यभिचारका अभाव हो

न च 'अनुग्रहहेतुत्वेन तद्धेतुत्वं तेषु उच्यते इति" वाच्यम्, एवंबोधकप्रमाणाभावात्, साक्षात् तत्कारणत्वबोधकस्य उक्तत्वात्।

ननु धर्मस्य स्वाव्यवहितकार्यानुग्रहे एव हेतुत्वं युक्तं, न तु व्यवहितेऽपि इत्यत आह—न च इति। यद्वा, अनुग्रहस्य हेतुत्वे सिद्धे, **तद्धेतुत्वं** भक्तिहेतुत्वं **तेषु** धर्मेषु **न उच्यत इति न च वाच्यम्** इति योजना[1]। **प्रमाणाभावाद्** इति। अनुग्रहस्य साक्षाद्धर्मजन्यत्वम्, अनुग्रहद्वारा धर्माणां भक्तिहेतुत्वम्, इति अस्मिन् अर्थे प्रमाजनकं किमपि नास्ति इत्यर्थः। प्रत्युत साक्षात्कारणत्वे प्रमाण-सद्भावात्। तानि च प्रमाणानि मूल एव उदाहृतानि **'श्रद्धाऽमृतकथायां मे'** **(भाग० ११।१९।२०)** इत्यादीनि।

और वह अव्यभिचारी तभी होगी जब हेतु अव्यभिचारी हो। इस प्रकार, भक्तिरूप हेतु व्यभिचारी नहीं है यह निश्चय होनेपर ही भक्तिरूप हेतु देखकर उसके कारणके रूपमें पूर्वजन्ममें धर्माचरण किये गये होनेकी सिद्धि हो सकती है किन्तु भक्तिरूप हेतुके अव्यभिचारी होनेकी सिद्धि तभी हो सकती है जब भक्तिके कारणके रूपमें पूर्वजन्ममें किये गये धर्माचरणकी सिद्धि हो चुकी हो।

पूर्वपक्षीके अनुसार पूर्वजन्ममें किये गये वर्णाश्रमधर्मके आचरणको भक्तिका कारण माननेमें अन्योऽन्याश्रय दोष होनेकी उसके विपक्षीकी बात इसलिए ठीक नहीं कही जा सकती है कि यहाँ पूर्वपक्षी पूर्वजन्ममें वर्णाश्रमधर्मके आचरण किये गये होनेकी सिद्धि अनुमानसे नहीं प्रत्युत शब्दप्रमाणसे कर रहा है और अनुमानसे केवल उसकी पुष्टि कर रहा है। इसे स्पष्ट करते हुए श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं,

यहाँ अन्योऽन्याश्रयदोष होनेकी बात तो तब कही जा सकती थी जब वर्णाश्रम धर्मके आचरणको केवल अनुमानके बलपर ही भक्तिकी उत्पत्तिका कारण माना जाता होता, परन्तु बात ऐसी नहीं है। वस्तुतः वर्णाश्रमादिधर्मोंके आचरणको भक्तिकी उत्पत्तिका कारण माननेका हमारा (अर्थात् पूर्वपक्षीका) मत वाचनिक अर्थात् शब्द प्रमाणसे सिद्ध है, क्योंकि पूर्वोक्त (अर्थात् ऊपर पृष्ठ २–४ पर उद्धृत) वाक्योंसे यह निःसन्दिग्ध रूपसे निश्चित हो जाता है कि वर्णाश्रमादिधर्मोंका आचरण भक्तिकी उत्पत्तिका हेतु है।

---

१. विवृतिमें मूलग्रन्थके इस वाक्यकी वैकल्पिक योजना **'अनुग्रहहेतुत्वे न तद्धेतुत्वं तेषु उच्यते'** इस प्रकार करके जो व्याख्या की गयी है उसका तात्पर्य भी यही है कि भक्तिको अनुग्रहजन्य न मानकर धर्माचरणादिजन्य मानने वाले पूर्वपक्षीका कहना है कि उसके विपक्षीका यह कहना ठीक न होगा कि 'धर्माचरण अनुग्रहका हेतु है यह मान लेनेपर धर्माचरणको भक्तिका हेतु माननेकी आवश्यकता नहीं रह जाती', क्योंकि ऐसा कोई प्रमाणवाक्य उपलब्ध नहीं होता जिससे विपक्षीके इस मतकी पुष्टि होती हो।

तात्पर्य यह है कि जन्मान्तरीय (अर्थात् पूर्व जन्मोंमें किया गया) धर्माचरण भक्तिकी उत्पत्तिका कारण है यह ज्ञान (अनुमानसे नहीं प्रत्युत) 'जन्मान्तरसहस्रेषु' इत्यादि पूर्वोद्धृतवाक्यरूप शब्दप्रमाणसे होता है अतः यहाँ अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं है।

अब प्रतिपक्षी अपने विपक्षीके इस कथनका उत्तर देता है कि प्रतिपक्षीको चाहिए कि वह धर्माचरणादिको भक्तिकी उत्पत्तिका साक्षात् कारण माननेके बजाय यह मान ले कि धर्माचरणादिसे भगवदनुग्रह होता है और भगवदनुग्रहसे भक्ति उत्पन्न होती है क्योंकि धर्माचरणादिको अपने अव्यवहितकार्यरूप अनुग्रहका हेतु मानना ही युक्तियुक्त है न कि अपने व्यवहितकार्यरूप (अर्थात् अपने अव्यवहित कार्य अनुग्रहके कार्यरूप) भक्तिका हेतु मानना।

प्रतिपक्षीका कहना है कि उसके विपक्षीका यह कहना ठीक नहीं होगा कि 'धर्माचरणादिको भक्तिका हेतु कहीं-कहीं केवल इसीलिए कह दिया गया है कि वे भक्तिजनक भगवदनुग्रहके कारण या हेतु हैं। तात्पर्य यह है कि धर्माचरणादिको भक्तिजनक अनुग्रहका हेतु होनेके कारण उपचारवश भक्तिका हेतु कह दिया जाता है, वस्तुतः तो भक्तिका हेतु भगवदनुग्रह ही है।' प्रतिपक्षीके अनुसार विपक्षीका यह मत इसलिए ठीक नहीं माना जा सकता कि इसका बोधक या ज्ञापक कोई ऐसा प्रमाणवाक्य उपलब्ध नहीं होता है जिसमें यह प्रतिपादित किया गया हो कि (धर्माचरण भगवदनुग्रहका साक्षात् साधन है एवं भगवदनुग्रह भक्तिकी उत्पत्तिका साक्षात् साधन और इस प्रकार) धर्माचरण परम्परया (अर्थात् भगवदनुग्रह द्वारा) ही भक्तिकी उत्पत्तिका कारण है साक्षात् नहीं। इसके विपरीत धर्माचरणादिको भक्तिकी उत्पत्तिका साक्षात् कारण बताने वाले प्रमाणभूत वाक्य तो पूर्वपक्षी (ऊपर पृष्ठ २-४ पर) उद्धृत ही कर चुके हैं।

पूर्वपक्षीके कथनका तात्पर्य यह है कि विपक्षीके, 'धर्माचरण साक्षाद्रूपसे अनुग्रहका और अनुग्रहद्वारा (अर्थात् परम्परया) ही भक्तिका हेतु या उत्पादक है', इस मतको प्रतिपादित करने वाला कोई प्रमाण (आप्तवाक्य) नहीं मिलता, इसके विपरीत धर्माचरणको भक्तिका साक्षात् कारण बताने वाले अनेक प्रमाणवाक्य मिलते हैं जिन्हें हम (पूर्वपक्षी) ऊपर उद्धृत कर चुके हैं। अतः विपक्षीका मत ग्राह्य नहीं हो सकता।

पूर्वपक्षीके कथनका आशय यह है कि यदि उसका विपक्षी यह कहना चाहे कि पूर्वपक्षीने धर्माचरणसे भक्तिकी उत्पत्ति होनेका प्रतिपादन करनेके लिए जो प्रमाणवाक्य उद्धृत किये हैं उनका अभिप्राय धर्माचरणको भक्तिका साक्षात् कारण बताना नहीं है प्रत्युत वे धर्माचरणसे भगवदनुग्रह होने और अनुग्रहसे भक्ति प्राप्त होने का प्रतिपादन करते हैं, तो इसके उत्तरमें पूर्वपक्षीको यह कहना है कि उसके द्वारा उद्धृत श्लोकोंका जो अर्थ उसका विपक्षी कर रहा है उसका बोधक, ज्ञापक या विनिगमक कोई प्रमाण नहीं है, जब कि पूर्वपक्षी उनका जो अर्थ करता है उस अर्थकी पुष्टि अनेक प्रमाणवाक्यों—जिनका उल्लेख पूर्वपक्षी पहले ही कर चुका है—से भी होती है।

किञ्च, अनुग्रहो नाम धर्मान्तरं फलदित्सा एव वा ?
न आद्यः, मानाभावाद् गौरवाच्च ।
न इतरः, तस्याः नित्यत्वेन तत्सहकार्यनङ्गीकाराच्च,

धर्मजन्योऽनुग्रह इतिवादिनाम् अनुग्रहस्य किं संस्कारादिवत् जन्यधर्मरूपत्वम्, इच्छारूपत्वं वा, इति विकल्प्य एकैकशो दूषयति—**किञ्च** इत्यादिना।

न आद्यः इति। 'प्रयाजादिजन्यापूर्ववद् अनुग्रहोऽपि जन्यधर्म एव' अस्मिन् अर्थे प्रमाणानुपलब्धेः। अनुपपत्त्यभावेऽपि अक्लृप्तपदार्थकल्पने गौरवदोषप्राप्तिः, अतः न प्रथमपक्षः।

न इतरः इति। **इतरः** फलदित्सापक्षः। **तस्याः** इति। भगवदिच्छाया नित्यत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धम्। तादृश्याः च अनित्यधर्मकारणसहकारित्वं

अब पूर्वपक्षी धर्मको अनुग्रहका कारण मानने वाले विपक्षीके मतका खण्डन करनेके लिए विभिन्न विकल्प प्रस्तुत कर उनका एकैकशः निराकरण करनेमें प्रवृत्त होता है।

पूर्वपक्षीका कहना है कि धर्मको अनुग्रहका हेतु कहने वालोंसे हम पूछना चाहेंगे कि अनुग्रह से उनका तात्पर्य क्या है ? क्या वे अनुग्रहको (मीमांसकोंके संस्कार या अपूर्वकी भाँति जन्यधर्मरूप अर्थात्) धर्माचरणसे उत्पन्न होने वाला कोई दूसरा ही धर्म मानते हैं अथवा जीवों द्वारा किये गये धर्माचरणका भक्तिरूप फल देनेकी भगवदिच्छाको ही अनुग्रहका नाम देते हैं ?

पूर्वोक्त दोनों विकल्पोंमेंसे कोई भी विकल्प स्वीकार कर सकना विपक्षीके लिए सम्भव नहीं है यह सिद्ध करनेके लिए पूर्वपक्षी इन विकल्पोंके विपक्षी द्वारा स्वीकार किये जानेपर होने वाले दोषोंका निर्देश करता है।

पूर्वपक्षीके अनुसार अनुग्रहको धर्मजन्य मानने वाले उसके विपक्षीका उपर्युक्त दोनों विकल्पोंमेंसे प्रथम (अर्थात्, 'अनुग्रह धर्माचरणसे उत्पन्न होने वाला प्रयाजादिजन्य अपूर्वकी भाँति एक पृथक् जन्यधर्म है' इस) विकल्पको मानना युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह सिद्ध होता हो कि अनुग्रह धर्माचरणसे उत्पन्न होने वाला एक पृथक् जन्यधर्म है; और ऐसे अप्रामाणिक पदार्थको माननेमें कल्पनागौरवरूप दोष भी आता है।

पूर्वपक्षीके अनुसार उसके विपक्षीका पूर्वोक्त विकल्पोंमेंसे दूसरे (अर्थात् 'अनुग्रह धर्माचरणका भक्तिरूप फल देनेकी भगवदिच्छाका ही नाम है' इस) विकल्पको मानना भी ठीक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि फलदित्सारूप भगवदिच्छा (को श्रुतिस्मृत्यादिमें) नित्य (माना गया) है और उसके नित्य

सर्गादौ एव भक्तिसम्भवेन अधुना एव भक्तिमत्त्वानुपपत्तेः, तस्याः मुक्तिचरमकारणत्वेन तेषां द्वितीयजन्मासम्भवेन आधुनिकभक्तदर्शनानुपपत्तेश्च ।

आद्यपक्षेऽपि इदं दूषणं ज्ञेयम्, भगवद्धर्माणां नित्यत्वाङ्गीकारात् ।

विरुद्धम् । न हि नित्यस्य अनित्यकारणसहकारित्वं क्वचिद् घटपटादिषु दृष्टचरम् । दूषणान्तरम् आह—सर्गादौ इति । यो जीवोऽग्रे भक्तो भावी सोऽपि सृष्ट्यारम्भ एव मुक्तिचरमकारणभक्तिं प्राप्य मुक्त एव स्यात्, न तु इदानीम् उपलभ्येत अपि, तत्कारणेच्छायाः सर्वदा सत्त्वाद् इत्यर्थः ।

आद्य—इति । 'अनुग्रहो भगवद्धर्मविशेषः कश्चन' इति अस्मिन् अपि पक्षे भगवद्धर्माणां नित्यत्वेन सर्गादौ एव मुक्तिसम्भवेन आधुनिकभक्तदर्शनानुपपत्तिः इति भावः ।

होनेसे उसका (धर्माचरणादिरूप) कोई सहकारी कारण भी स्वीकार नहीं किया गया है अतः नित्य अनुग्रहके सृष्टिके प्रारम्भमें ही विद्यमान होने और विना किसी सहकारी कारणकी अपेक्षाके भक्तिरूप कार्य उत्पन्न करनेमें समर्थ होने के कारण सृष्टिके प्रारम्भमें ही अनुगृहीत व्यक्तिमें भक्तिको उत्पन्न कर देनेके कारण उन व्यक्तियोंके भक्तिमान् होनेकी उपपत्ति (या व्याख्या) न हो सकेगी जिनमें भक्ति अब उत्पन्न हो रही है। पूर्वपक्षीका कहना है कि उसके विपक्षी भक्तिको मुक्तिका चरम कारण मानते हैं अतः उनके मतमें नित्य भगवदनुग्रहसे (सृष्टिके प्रारम्भमें ही) उत्पन्न भक्तिसे युक्त जीवोंका (सृष्टिके प्रारम्भमें ही मोक्ष हो जानेके कारण) पुनः जन्म ले सकना सम्भव न होनेसे वर्तमान कालमें होने वाली भक्तोंकी उपलब्धि भी अनुपपन्न हो जायेगी। अतः अनुग्रहको फलदित्सारूप (नित्य भगवदिच्छारूप) माननेका पूर्वोक्त द्वितीय विकल्प भी तर्कसङ्गत नहीं है।

पूर्वपक्षीका कहना है कि उसके विपक्षीके दूसरा विकल्प स्वीकार करनेमें जिस दोषके होनेकी बात अभी कही गयी है वह उसके अनुग्रहको धर्मान्तर माननेके उपर्युक्त प्रथम विकल्पको स्वीकार करनेमें भी आता है क्योंकि वह (विपक्षी) भगवान्के धर्मोंके नित्य होनेकी बात स्वीकार करता है। तात्पर्य यह है कि अनुग्रहको भगवद्धर्मविशेष और नित्य माननेपर भी उसके द्वारा सर्गारम्भमें ही उत्पन्नकी गयी भक्तिसे युक्त जीवोंकी सर्गारम्भमें ही मुक्ति हो जानेसे वर्तमानकालमें उपलब्ध होने वाले भक्तोंकी उपस्थितिकी व्याख्या न की जा सकेगी।

तस्य जन्यत्वोक्तौ तु परमतप्रवेशः। धर्माणामेव तज्जनकत्व-सम्भवाद्; इच्छायाः तथात्वे पूर्वोक्तदूषणापत्तिः नित्यत्वात् तस्याः।

तस्याश्च ज्ञानजन्यत्वनियमेन नित्यसर्वविषयकज्ञानवदिच्छा-याश्च जन्यत्वम् अनुपपन्नम्।

तस्य इति भगवद्धर्मानुग्रहस्य जन्यत्वकथने परेषां भगवद्दृष्टिबहिर्मुखानां मते सिद्धान्ते प्रवेशः स्वीकारो, भवेद् इति शेषः।

किञ्च, जनकत्वम् अपि अनुग्रहं प्रति धर्माणाम् एव वाच्यम्, न तु इच्छायाः, तस्याः च नित्यत्वाद् एव पूर्वोक्तदूषणस्य सर्गादौ एव मुक्तया-पत्तिरूपस्य प्रसङ्गः स्याद् इत्यर्थः। अत्र हेतुः नित्यत्वात् तस्याः इति।

ननु भवतु अनित्यत्वम् इच्छायाः, तथा सति न उक्तदूषणापत्तिः, इति चेत्, तत्र आह—तस्याः च इति। इच्छायाः जन्यत्वोक्तौ जनकत्वं तु तत्समाना-धिकरणसमानविषयज्ञानस्य एव वाच्यम्। तच्च अनुपपन्नम्। भगवन्निष्ठयोः तयोः नित्यत्वं सर्वविषयकत्वं च धर्मिग्राहकमानसिद्धम् इत्यर्थः।

यदि विपक्षी यह कहें कि (भगवद्धर्मरूप) अनुग्रह जन्य (अर्थात् काल-विशेषमें उत्पन्न होने वाला और इसीलिए अनित्य) है तो उनका भगवद्धर्मोंको अनित्य मानने वाले और भगवदनुग्रहको धर्माचरणजन्य मानने वाले चिन्तकोंके मतमें प्रवेश हो जायेगा, क्योंकि अनुग्रहको जन्य माननेपर उसके जनक या उत्पादक की अपेक्षा होगी और यह जनक या उत्पादक—भगवदिच्छाको भगवदनुग्रहका जनक माननेमें भगवदिच्छाके नित्य होनेके कारण पूर्वोक्त (अर्थात् सृष्टिके प्रारम्भमें ही सभीके मुक्त हो जानेके कारण वर्तमानकालमें उपलब्ध भक्तोंकी अनुपपत्तिरूप) दोष प्रसक्त होनेसे—जीवों द्वारा किया गया धर्म (का आचरण) ही हो सकता है।

पूर्वपक्षीका कहना है कि विपक्षी भगवदिच्छाको भगवदनुग्रहका जनक माननेमें होनेवाले पूर्वोक्त दोषसे बचनेके लिए भगवदिच्छाको जन्य मान लेनेका विकल्प भी स्वीकार नहीं कर सकते क्योंकि इच्छा ज्ञानजन्य होती है और जिस प्रकार भगवान्‌का ज्ञान नित्य तथा सर्वविषयक ही होता है जन्य नहीं उसी प्रकार (नित्य और सर्वविषयक ज्ञानसम्पन्न ब्रह्मकी) इच्छा भी (नित्य और सर्वविषयक होनेके कारण) जन्य नहीं हो सकती।

पूर्वपक्षीके कथनका आशय यह है कि इच्छा ज्ञानजन्य होती है और जन्य धर्म अनित्य होते हैं किन्तु उसके विपक्षी मानते हैं कि नित्य ब्रह्मके धर्म भी नित्य होते हैं

किञ्च, अनुग्रहस्य अनियतत्वे निःशङ्का तदर्थिप्रवृत्तिः न स्यात् । स्वविषयकानुग्रहास्तित्वस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात् । ज्ञाने च प्रवृत्त्युच्छेदः । तथा च,

---

जन्यत्वे बाधकान्तरमाह—किञ्च इत्यारभ्य तथात्वञ्च अग्रे इत्यन्तेन । **अनुग्रहस्य** इति । अनुग्रहस्य जन्यधर्मान्तरत्वम् आश्रित्य इदं वचनम् । **अनियतत्वे** किञ्चिद्धर्मस्य व्याप्यत्वज्ञानाभावे, तद्व्यापकानुग्रहस्य अनुमातुम् अशक्यत्वात्, **निःशङ्का** तदधीनभक्त्यर्थि**प्रवृत्तिः** भक्तौ **न स्याद्**, धूमादर्शने पर्वतीयवह्न्यर्थिप्रवृत्तिवद् इत्यर्थः । तदेव स्पष्टीकर्तुमाह—**स्वविषयक**–इति । ननु भक्तौ पक्षपातश्रद्धातिशयत्वादिना तत्कारणानुग्रहास्तित्वं ज्ञायतां, ततो न कापि प्रवृत्तौ अनुपपत्तिः, इति चेत्? तत्राह—**ज्ञाने च** इति । भक्तिसाधन इति शेषः । भक्तिकारणानुग्रहास्तित्वनिश्चये अनायासेन एव सेत्स्यन्त्यां भक्तौ

अतः इच्छारूप धर्म जन्य (अनित्य) होनेके कारण ब्रह्ममें नहीं रह सकता । तात्पर्य यह है कि नित्य ब्रह्मको धर्मी और अनित्य इच्छारूप अनुग्रहको उसका धर्म मानना परस्पर-व्याहत है अतः अनुग्रहको इच्छारूप भगवद्धर्म नहीं माना जा सकता । फलतः अनुग्रहको फलदित्सारूप माननेका विकल्प ठीक नहीं है ।

इस प्रकार भगवदिच्छाको पूर्वोक्त कारणोंसे जन्य न मान सकनेके कारण तथा उसे नित्य माननेपर उसको अनुग्रहका जनक माननेमें पूर्वोक्त दोष प्रसक्त होनेके कारण यह निष्कर्ष निकलता है कि अनुग्रहका जनक भगवदिच्छाको नहीं जीवों द्वारा किये गये धर्म (के आचरण) को ही माना जा सकता है और यह मान लेने (अर्थात् अनुग्रहको धर्म (धर्माचरण) से जन्य मान लेने) पर परमतप्रवेश होता है, यह प्रतिपादित करनेके बाद प्रतिपक्षी अनुग्रहको जन्य माननेमें होने वाले कुछ अन्य दोषोंका निरूपण करते हैं ।

अनुग्रह (जन्यधर्म है और वह) अनियत है (अर्थात् भगवान् कब किसपर अनुग्रह करेंगे यह कहा नहीं जा सकता) यह मान लेनेपर ऐसा मानने वाले व्यक्तिकी, 'मुझपर भगवान्‌का अनुग्रह है (अथवा होगा)', यह जान सकना अर्थात् स्वविषयक भगवदनुग्रहके अस्तित्वका निश्चय कर सकना सम्भव न होनेके कारण, भगवदनुग्रह एवं तदधीन तथा तज्जन्य भक्ति को प्राप्त करनेके लिए (श्रवणादिमें) निःशङ्क प्रवृत्ति न हो सकेगी ।

उपर्युक्त कथनका आशय अधोलिखित है । अनुग्रहका अनुमान कर सकनेके लिए किसी ऐसे व्याप्यका ज्ञान होना आवश्यक है जिसका व्यापक अनुग्रह हो । अनुग्रहके गमक अर्थात् लिङ्गभूत व्याप्यधर्मके निश्चयात्मक ज्ञानके अभावमें अनुग्रहका अनुमान नहीं हो सकता और जब तक अनुग्रहका निश्चयात्मक ज्ञान न हो जाये तब तक तदधीन या तज्जन्य भक्तिकी प्राप्तिके लिए भक्त उसी प्रकार प्रवृत्त नहीं होगा जिस प्रकार पर्वतीय अग्निकी प्राप्तिके लिए कोई तब तक (पर्वतपर जाने आदिमें) प्रवृत्त नहीं होता है जब

'अस्यां'[1] वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा ॥' (भाग० १।७।७)

कायक्लेशसाध्ये श्रवणादौ साधने न कोऽपि प्रवर्तेत इति भावः। श्रीभागवते

तक पर्वतमें धूम आदि देखकर अग्निके वहाँ होनेका निश्चय नहीं कर लेता है। इस प्रकार भगवदनुग्रहको (किसी निश्चित व्याप्यका निश्चित व्यापक न मानकर) अनियत मानने वाले व्यक्तिको स्वविषयक भगवदनुग्रहके अस्तित्वका ज्ञान नहीं हो सकता अर्थात् वह यह नहीं जान सकता कि भगवान्ने उस पर अनुग्रह किया है और ऐसी दशामें उसकी अनुग्रहजन्य भक्तिको प्राप्त करनेके लिए (श्रवणादिमें) निःशङ्क प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती।

यहाँ प्रतिपक्षी यह कह सकता है कि किसी व्यक्तिकी भगवद्भक्तिमें अत्यधिक रुचि एवं श्रद्धा आदि देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि उसकी यह रुचि भगवदनुग्रहका कार्य है अर्थात् उसपर भगवान्का अनुग्रह हो चुका है और इसी कारण उसकी भक्तिमें रुचि एवं श्रद्धा है। इस प्रकार भगवद्भक्तिमें व्यक्तिकी श्रद्धा देखकर उसके कारणके रूपमें अनुग्रहके अस्तित्वका ज्ञान (अनुमान द्वारा) होता है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि व्यक्तिको स्वविषयक अनुग्रहके अस्तित्वका ज्ञान नहीं हो सकता और उक्त प्रकारसे स्वविषयक भगवदनुग्रहके अस्तित्वका ज्ञान हो सकने के कारण यह निष्कर्ष निकालना भी ठीक नहीं कहा जा सकता कि 'स्वविषयक भगवदनुग्रहका ज्ञान न हो सकनेके कारण व्यक्ति अनुग्रहजन्य भक्तिको प्राप्त करनेके लिए निःशङ्क रूपसे श्रवणादिमें प्रवृत्त न होगा।'

किन्तु इस प्रकार भी भक्तिको प्राप्त करनेके लिए श्रवणादिमें निःशङ्क प्रवृत्तिकी उपर्युक्त अनुपपत्तिको दूर नहीं किया जा सकता क्योंकि पूर्वोक्त प्रकारसे स्वविषयक अनुग्रहका ज्ञान हो जानेपर व्यक्ति, 'मुझपर भक्तिका कारणभूत भगवदनुग्रह हो गया है अतः अब भक्ति तो मुझे अनायास ही प्राप्त हो जायेगी', यह सोचकर भक्तिको प्राप्त करनेके लिए कष्टसाध्य श्रवणादि रूप साधनमें प्रवृत्त न होगा।

एक बात और भी है। श्रीमद्भागवतमें उपलब्ध होने वाले सूतके "इस श्रीमद्भागवतरूप सात्वतसंहिताका श्रवण करनेसे व्यक्तिकी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति भक्ति उत्पन्न हो जाती है जिससे उसके शोक, मोह और भय

---

१. यह सुबोधिनीसम्मत पाठ है। पूर्वमुद्रित भक्तिहेतुनिर्णयमें 'यस्यां' यह पाठ है।

अस्यां वै श्रूयमाणायाम् इति। भक्त्युत्पत्तिपर्यन्तम् इयं श्रोतव्या। इयञ्च दृष्टद्वारा भक्तिजनिका। दृष्टे सम्भवति अदृष्टकल्पनाया अन्याय्यत्वात्। यथा च अस्या दृष्टोपयोगः तदुपपादितं प्रथमश्लोके। **कृष्णे** आविर्भूते भगवति। **परमपूरुषे** सर्वप्रमाणसमन्वये कालादिनियन्तरि वा। **भक्तिः उत्पद्यते** स्वतन्त्रस्य। शोकमोहभयानि रजस्तमस्सत्त्व-कार्याणि तानि अपहन्ति इति तथा। अनर्थनिवृत्तिः दूरे। गुणकार्यमात्रम् एव निवर्तत इत्यर्थः। (भाग० सुबो० १।७।७)।

इत्यादिना तदर्थं व्यासस्य श्रीमद्भागवते प्रवृत्तिः इत्युक्तिश्च विरुद्धा स्यात् ।

किञ्च, त्वदुक्तरीत्या शास्त्रार्थज्ञाने श्रौतविधिनिषेधाङ्गीकारानुपयोगज्ञानाद् भक्त्यर्थिषु सदाचारोच्छेदप्रसङ्गः ।

व्यासस्य भक्त्यर्थितया प्रवृत्तिवचनं विरुद्धं स्याद्, अतः प्रमाणविरुद्धोऽपि अयम् अर्थो ज्ञेयः ।

दूषणान्तरम् अपि आह—किञ्च इति । अनुग्रहैकलभ्यत्वम् एव भक्तौ न साधनसाध्यत्वम् अपि इति या त्वदुक्ता रीतिः, तया प्रणालिकया **शास्त्रार्थज्ञाने** उच्यमाने तदभिनिविष्टस्य कर्तव्याकर्तव्ययोः अर्थयोः विधायकनिषेधकशास्त्रयोः उपयोगो न स्याद् एव, अकिञ्चित्करत्वाद् इत्यर्थः । एवं गुरुशिष्यपरम्परया भक्तिमुपादित्सूनां सन्ध्यावन्दनादिशिष्टाचारोच्छेदः स्यात्, स न्याय्यो न भवति इत्यर्थः ।

नष्ट हो जाते हैं" (भाग० १।७।७) इत्यादि कथनसे ज्ञात होता है कि व्यासकी श्रीमद्भागवतकी रचनामें प्रवृत्ति भक्तिप्राप्तिके साधनके रूपमें ही हुई थी[1] और इसके श्रवणसे भगवान्‌के प्रति भक्ति उत्पन्न हो जाती है । ऐसी स्थितिमें सिद्धान्तीके भक्तिको श्रवणादिसाधनसाध्य न मान कर केवल भगवदनुग्रहैकलभ्य माननेसे सुतके इस (पूर्वोक्त) कथनका विरोध होगा, अतः श्रीमद्भागवतके ऊपर उद्धृत वचनोंका विरोधी (अर्थात् प्रमाणविरोधी) होनेके कारण भी सिद्धान्तीका भक्तिको (श्रवणादिसाधनसाध्य न मानना और) भगवदनुग्रहैकलभ्य मानना उचित नहीं है ।

भक्तिको श्रवणादिसाधनसाध्य मानने वाला पूर्वपक्षी सिद्धान्तीके भक्तिको अनुग्रहैकलभ्य माननेके मतको स्वीकार करनेमें एक और कठिनाई बताता हुआ कहता है कि,

सिद्धान्तीके मतको स्वीकार कर उसके बताये गये प्रकारसे शास्त्रका अर्थ समझने (अर्थात् सारे शास्त्र यही प्रतिपादित करते हैं कि भक्ति केवल भगवदनुग्रहसे ही प्राप्य है, धर्माचरण और श्रवणादि से साध्य नहीं है यह मान लेने) वाले व्यक्तिकी समझमें वेदप्रतिपादित विधि-निषेधोंको स्वीकार कर तदनुसार आचरण करना भक्तिप्राप्तिमें साधक न होनेके कारण अनुपयोगी हो जायेगा और ऐसी दशामें भक्ति प्राप्त करनेके इच्छुक व्यक्तियोंमें सदाचारके नष्ट हो जानेका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा ।

---

१. अनर्थोपशमं साक्षाद्भक्तियोगमधोक्षजे ।
लोकस्याजानतो विद्वांश्चक्रे सात्वतसंहिताम् ॥ (भाग० १।७।६) ।

न च इष्टापत्तिः भक्त्यतिशयोत्तरकालीनत्वाद् एवंभावस्य । अतएव भरतस्य अतथात्वं पूर्वं, तथात्वञ्च अग्रे ।

ननु सर्वात्मभावपूर्विकानन्यभक्तौ सर्वधर्मत्यागे समीहितसिद्धिः इति चेत्, तत्राह—**न च** इति । **भक्त्यतिशयः** भक्त्युद्रेकः तदनन्तरं स्वयमेव जायमानत्वाद्, **एवंभावस्य** सर्वधर्मत्यागपूर्वकावस्थानस्य । ज्ञानपूर्वकं तथा आचरणे प्रत्यवाय एव । तथा च स्मर्यते,

'श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्ते उल्लङ्घ्य वर्तते ।
आज्ञोच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न मे प्रियः ॥' इति ।

अस्मिन् अर्थे प्राचीनाचरितं प्रमाणयन्ति, **अत एव** इति । **भरतस्य** जडभरतस्य, **अतथात्वं** सर्वधर्मत्यागाकरणम्, **पूर्वं** राजशरीरदशायाम् । **तथात्वं** सर्वत्यागपूर्वकम् अवस्थानम्, **अग्रे** पश्चाद् ब्राह्मणदशायाम् ।

पूर्वपक्षीके अनुसार सिद्धान्ती यह नहीं कह सकता कि उसे धर्माचरण या सदाचार का उच्छेद अभीष्ट है, क्योंकि सर्वधर्मपरित्यागपूर्वक अवस्थिति भक्तिके चरम परिपाकके अनन्तर ही होती है, पहले नहीं । इसीलिए श्रीमद्भागवतमें भरतके चरित्रमें पहले (राजा होनेके समय) धर्माचरणपूर्वक रहने और बादमें (ब्राह्मण होनेके समय) धर्माचरणविरहित होकर जडवत् आचरण करने की बात कही गयी है ।

पूर्वपक्षीके कथनका तात्पर्य यह है कि सिद्धान्ती यह नहीं कह सकता कि उसके (पूर्वपक्षीके) द्वारा बताये गये प्रकारसे शास्त्रका अर्थ समझने वाले व्यक्तियोंका वेद-प्रतिपादित विधि-निषेधादिका अनुसरण करने वाले आचरणको (भक्तिप्राप्तिमें उपयोगी न माननेके कारण) छोड़ देना तो उसे (सिद्धान्तीको) अभिमत ही है, क्योंकि—

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः ।
सूतकद्वयसम्प्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥
हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भासति भासति ।
नास्तमेति न चोदेति कथं सन्ध्यामुपास्महे ॥ (मैत्रेय्युपनिषद् २।१३-१४) ।
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन !
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥
यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (गीता २।४५-४६) ।
त्यज धर्ममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज ।
उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्त्यज ॥ (महाभारत)
निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः ?

इत्यादि वाक्योंमें आत्मज्ञानी पुरुषके वेदानुसारी धर्माचरणके छूट जानेका उल्लेख मिलता है । सिद्धान्तीका यह कथन इसलिए ठीक नहीं है कि सर्वधर्मत्यागपूर्वक अवस्थिति भक्तिका

तस्माद् अकामोपहताखिलवर्णाश्रमधर्मैः, अनेकजन्मसञ्चितैः सत्त्वशुद्धौ, अञ्जनाभ्यासजनितनयनतिमिरोपहतौ वस्तुतत्त्वज्ञानम् इव, भगवद्भक्तिः एव परमपुरुषार्थः इति शास्त्रार्थज्ञानम्। ततः

स्वमतम् उपसंहरति भक्तेः साधनसाध्यत्ववादी—**तस्माद्** इति। कामैः विषयलालसैः न उपहताः विषयीकृताः, अखिलाः सर्वे ये वर्णानाम् आश्रमाणाञ्च धर्माः, तैः साधनभूतैः **अनेकजन्मो**पार्जितैः, **सत्त्वस्य** अन्तःकरणस्य **शुद्धौ** जातायां सत्यां, भगवद्भजनम् एव पुरुषार्थ इति एवंरूपं शास्त्रार्थं निश्चिनोति, 'जन्मान्तरसहस्रेषु' इत्यादिवचनाद् एवंविधनिश्चयस्य उचितत्वात्। अत्र दृष्टान्तः। बाह्यदृष्टिदोषाणां निवारकाञ्जनप्रक्षेपजनिततन्निवृत्तौ घटादिवस्तु-

---

उद्रेक होनेपर स्वयमेव हो जाती है। यह भक्तिके चरम परिपाकके बाद ही होती है। जान-बूझकर श्रुतिस्मृत्यनुसारी धर्माचरणकी उपेक्षा या उल्लङ्घन करना तो

श्रुतिस्मृती ममैवाज्ञे यस्त उल्लङ्घ्य वर्तते।
आज्ञोच्छेदी मम द्वेषी मद्भक्तोऽपि न मे प्रियः॥

इत्यादि भगवदुक्तियोंके अनुसार भगवदाज्ञाका उल्लङ्घन, अपराध और पाप है। इसीलिए श्रीमद्भागवतमें महाभागवत भरतके चरित्रके वर्णनमें उनके राजा होनेके समय उनके द्वारा होता, अध्वर्यु, उद्गाता और ब्रह्मा इन चार ऋत्विजों द्वारा कराये जाने वाले प्रकृति और विकृति दोनों प्रकारके अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम आदि छोटे-बड़े क्रतुओं (यज्ञों) द्वारा यथासमय श्रद्धापूर्वक यज्ञक्रतुरूप भगवान् श्रीवासुदेवके यजन करनेका उल्लेख मिलता है और बादमें एक दूसरे जन्ममें ब्राह्मणके रूपमें भगवद्-कृपासे अपनी पूर्वजन्मपरम्पराका स्मरण रहनेसे श्रीभगवान्‌के ध्यानमें निरन्तर लीन रहनेसे वैदिक धर्माचरणका सर्वथा त्याग कर जडवदाचरण करनेके कारण जडभरतके रूपमें प्रसिद्ध होनेकी बात कही गयी है।

पूर्वपक्षी मतका उपसंहार करते हुए निष्कृष्टार्थ बताता है—

अतः जिस प्रकार आँखोंमें अञ्जन लगाते रहनेसे शनैः शनैः तिमिर रोग दूर हो जानेपर पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो जाता है[1], उसी प्रकार अनेक जन्मोंमें किये गये और इस प्रकार सञ्चित, विषयोपभोगकी लालसासे विरहित सारे वर्णाश्रमधर्मोंके आचरणसे सत्त्वशुद्धि (अन्तःकरणकी शुद्धि) हो जानेपर शास्त्रके अर्थका सुस्पष्ट ज्ञान हो जाता है और वह इस रूपमें कि सारे शास्त्र भगवद्भक्तिके ही परम पुरुषार्थ होनेका प्रतिपादन करते हैं[2]।

---

१. यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः।
तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसम्प्रयुक्तम्॥
(भाग० ११।१४।२६)।

२. द्रष्टव्य, भक्तिमार्तण्ड पृष्ठ १–७.

तदर्थम् एव वर्णाश्रमधर्मकरणे भगवद्भक्तिः; तया च अनुग्रहः; तेन च मुक्तिः; इति राजवर्त्मविदुषां विदुषां न ज्ञानधनमोषः कथञ्चन; इति स्थिते वदामः।

त्वदुक्तचित्तशुद्धौ अपि एकेषां ज्ञानमार्गिता, केषाञ्चिद्

याथार्थ्यज्ञानम् इव। तदनन्तरं भक्त्यर्थम् एव वर्णाश्रमधर्मानुष्ठानं, तेन भक्तिः फलम्। तया च भक्त्या जनितः अनुग्रहः भगवन्निष्ठो जीवविषयकः, तेन मोक्षः; इति एवंविधं राजपथं जानतां शङ्काशूकरूपतस्करोपद्रवाभावात् न ज्ञानरूपधनस्य स्तेयम् इति एवं वादिनि प्रत्यवतिष्ठमाने ब्रूम इत्यर्थः।

त्वदुक्त—इति। अकामोपहतधर्मै इत्यर्थः। **ज्ञानमार्गिता** भक्तिम् अनादृत्य ज्ञानमार्गैकनिष्ठता इत्यर्थः। अन्यथा एकत्र उभयसद्भावप्राशस्त्यं विरुद्ध्येत।

तदनन्तर उस परमपुरुषार्थरूप भगवद्भक्तिकी प्राप्तिके लिए ही वर्णाश्रमधर्मोंका आचरण करनेपर भक्तिरूप फल उपलब्ध होता है। इस भक्तिद्वारा भगवदनुग्रहकी और भगवदनुग्रहसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार इस रूपमें शास्त्रके अर्थरूप राजमार्गको जाननेवाले विद्वानोंके ज्ञानरूपी धनकी चोरी किसी भी प्रकार नहीं हो सकती।

पूर्वपक्षी वर्णाश्रमधर्मके महत्त्वपर बल देनेकी इच्छासे व्यङ्गपूर्वक कहता है कि शास्त्र भगवद्भक्तिको परमपुरुषार्थ बताते हैं यह ज्ञान प्राप्त करनेके लिए भी जन्मजन्मान्तरतक निष्काम भावसे वर्णाश्रमधर्मोंका आचरण करना पड़ता है, तो भगवद्भक्ति प्राप्त करनेके लिए वर्णाश्रमधर्मका आचरण तो और भी अधिक अपेक्षित होगा। कामनारहित होकर वर्णाश्रमधर्मका दीर्घकालतक आचरण करनेसे व्यक्तिकी समझमें यह बात आती है कि सारे शास्त्र भगवद्भक्तिको ही साधनात्मक परमपुरुषार्थ बताते हैं, और तब वह सारे वर्णाश्रमधर्मोंका अनुष्ठान उस पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिए ही करता है, जिसके परिणामस्वरूप उसके हृदयमें भगवद्भक्तिरूप फल उत्पन्न होता है। उस भक्तिके कारण भगवान् जीवपर अनुग्रह करते हैं और भगवदनुग्रहसे जीवको साध्यात्मक परम पुरुषार्थरूप मोक्ष प्राप्त हो जाता है। उपर्युक्त प्रकारके राजमार्गको जाननेवाले विद्वानोंके ज्ञानरूप धनको सन्देहादिरूप तस्कर चुरा नहीं सकते अर्थात् इस क्रमको जाननेवालोंके हृदयमें सन्देहके लिए कोई अवकाश नहीं रहता।

इस प्रकार यहाँतक श्रीविट्ठलनाथने इस पूर्वपक्षका निरूपण किया कि भक्तिका हेतु वर्णाश्रमधर्मका आचरण है और उस भक्ति से भगवदनुग्रह तथा भगवदनुग्रहसे मोक्ष होता है। अब वे इस पूर्वपक्षका खण्डन कर, 'भगवदनुग्रह ही भक्तिका हेतु है' इस सिद्धान्तकी स्थापना करनेमें प्रवृत्त होते हैं।

पूर्वपक्षीके पूर्वोक्त कथनके उत्तरमें हमें (सिद्धान्तीको) अधोलिखित बातें कहनी हैं। प्रथम तो यह कि पूर्वपक्षीके अनुसार बताये गये प्रकारसे अर्थात्

भक्तिनिष्ठता एव इति अत्र को हेतुः इति उच्यताम् । न च शुद्धौ तारतम्यं वाच्यम्, तत्तुल्यता, यतो ज्ञानस्य अपि अन्यथा

तदुक्तं निबन्धे आचार्यचरणैः, 'ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः' (त० शास्त्रार्थप्र० का० १४) इति । भक्तिनिष्ठता भक्तिमार्गैकनिष्ठता । अत्र उभयोः वैलक्षण्यं सार्वजनीनम् । तच्च न कारणैक्ये घटते, अतः तद्द्वैविध्यम् अवश्यं वाच्यम् इत्यर्थः ।

ननु क्लृप्तचित्तशुद्धौ एव अवान्तरभेदेन तद्द्वैविध्यम् उच्यतां, न तु अक्लृप्तहेत्वन्तरम् अपि इति, अत आह—**न च** इति । **तत्तुल्यता** इति । शुद्ध्यापादकधर्मादीनाम् उभयत्र अपि साम्येन उपलम्भाद् इत्यर्थः । **ज्ञानस्य**

विषयोपभोगकी लालसासे रहित होकर किये गये वर्णाश्रमधर्मोंके अनुष्ठानसे चित्तशुद्धि हो जानेपर भी कुछ लोग ज्ञानमार्गी हो जाते हैं अर्थात् ज्ञानमार्गमें ही स्थिर हो जाते हैं (उनमें भक्ति उत्पन्न नहीं होती) और कुछ लोग भक्तिनिष्ठ हो जाते हैं अर्थात् भक्तिमार्गमें परिनिष्ठित हो जाते हैं, ऐसा हम सभीका अनुभव है । पूर्वपक्षीको बताना चाहिए कि इसका कारण क्या है अर्थात् वर्णाश्रमधर्माचरणरूप एक ही कारणसे परस्पर भिन्न दो फल क्यों उत्पन्न होते हैं ?

सिद्धान्तीके प्रश्नका आशय यह है कि पूर्वपक्षी द्वारा प्रतिपादित प्रकारसे कामनारहित होकर वर्णाश्रमधर्मका आचरण करनेसे अन्तःकरणशुद्धि हो जानेपर भी कुछ लोग भक्तिमार्गकी उपेक्षा कर केवल ज्ञानमार्गमें ही निष्ठा रखते हैं और कुछ अन्य केवल भक्तिमार्गमें ही निष्ठा रखते हैं । इस वैषम्यका कारण क्या है ? मूलके 'ज्ञानमार्गिता' पदका आशय यह है कि कुछ लोग भक्तिकी उपेक्षा कर केवल ज्ञानमार्गमें निष्ठा रखते हैं, क्योंकि स्वयं श्रीवल्लभाचार्यने शास्त्रविहित भक्ति करनेवालोंमें ज्ञानी भक्तको सर्वाधिक प्रशस्य बताते हुए तत्त्वार्थदीपनिबन्धके शास्त्रार्थप्रकरणमें कहा है कि ज्ञानी यदि कृष्णका भजन करते हैं तो उनसे बढ़कर और कोई नहीं है[1] । उनकी दृष्टिमें ज्ञानीका महत्त्व वस्तुतः इसमें है कि वह ज्ञानी होते हुए भी भगवान्का भक्त है । भगवान्ने गीतामें भगवद्भजन करने वाले चतुर्विध पुरुषोंमें ज्ञानीको ही सर्वश्रेष्ठ बताते हुए अपनी आत्मा कहा है[2] ।

ज्ञानमार्गैकनिष्ठ एवं भक्तिमार्गैकनिष्ठ व्यक्तियोंमें भेदका अनुभव सार्वजनीन है और ज्ञाननिष्ठा तथा भक्तिनिष्ठा दोनोंका एक ही कारण मानना युक्तियुक्त न होगा, अतः पूर्वपक्षीको इन दोनोंके अलग-अलग दो कारण भी मानने चाहिए, किन्तु पूर्वपक्षी वर्णाश्रमधर्माचरणजन्य चित्तशुद्धिरूप एक ही कारणको इन दोनोंका हेतु मानता है जो युक्तिसङ्गत नहीं है । इस समस्याके समाधानके लिए,

---

१. ज्ञानी चेद्भजते कृष्णं तस्मान्नास्त्यधिकः परः ॥ (त० शास्त्रार्थप्र० का० १४) ।

२. चतुर्विधा भजन्ते मां नराः सुकृतिनोऽर्जुन !
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ! (गीता ७।१६) ।
उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । (गीता ७।१८) ।

उत्पत्तिः न स्याद् इति विचारय ।

तस्मादाद्यप्रवृत्तिर्या भक्तावनुपपत्तितः ।
केवलानुग्रहात् सेति मन्तव्यं प्रतिवादिना ॥

अपि इति । चित्तशुद्धिः भक्तौ स्वातिरिक्तम् अपेक्षते यदि तदा ज्ञानोत्पत्तौ अपि तथात्वापत्तिः इति भावः ।

स्वसिद्धान्तमाह—तस्माद् इति । अनुपलब्धसाधनस्य जीवस्य सृष्ट्यारम्भे इयं प्रथमतया **प्रवृत्तिः भक्तौ** या दृश्यते **सा केवलानुग्रहात्** साधनान्तरासहकृताद् एव भवति, साधनानाम् अनुपलम्भात्, प्रकारान्तरेण उपपत्त्यभावाद् इत्यर्थः ।

ननु अनुमितिसद्भावात् कथं न साधनान्तरोपलम्भः ? तथा हि 'विवादाध्यासिता प्रवृत्तिः अनुग्रहेतरपूर्विका, क्रियात्वाद्, भुजिक्रियावद्' इति चेत् ? न प्रतिपक्षसद्भावात् । तथा हि, 'पूर्वोक्ता प्रवृत्तिः न अनुग्रहेतरपूर्विका, भक्त्यर्थिक्रियात्वात्, नारदप्रह्लादादिक्रियावद्' इति । अस्य अनुग्राहकं प्रमाणं 'यमेवैष वृणुते' (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप० ३।२।३) इति पूर्वोक्तश्रुतिः अनुसन्धेया ।

पूर्वपक्षीका यह कहना भी ठीक न होगा कि वर्णाश्रमधर्माचरणजन्य चित्तशुद्धिमें तारतम्य होता है; प्रत्युत उसे ज्ञाननिष्ठाकी उत्पादक चित्तशुद्धि एवं भक्तिनिष्ठाकी उत्पादक चित्तशुद्धिमें तुल्यता स्वीकार करनी होगी, क्योंकि उसे इस बातपर भी विचार करना होगा कि अगर वह उभयत्र चित्तशुद्धिकी तुल्यता न मानेगा तो ज्ञानकी उत्पत्तिकी व्याख्या भी न कर पायेगा ।

सिद्धान्तीके कहनेका तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षीका चित्तशुद्धिमें अवान्तर भेद स्वीकार कर ज्ञाननिष्ठाकी उत्पादक चित्तशुद्धि एवं भक्तिनिष्ठाकी उत्पादक चित्तशुद्धि में तारतम्य मानना भी ठीक न होगा, क्योंकि इन दोनों चित्तशुद्धियोंका उत्पादक वर्णाश्रमधर्माचरण तो उभयत्र तुल्य है । ऐसी स्थितिमें उत्पादकके अभिन्न होनेपर उत्पाद्योंमें भेदकी व्याख्या नहीं की जा सकेगी । पूर्वपक्षीको इस बातपर भी विचार करना चाहिए कि यदि वह यह मानेगा कि भक्तिको उत्पन्न करनेके लिए चित्तशुद्धिको अपनेसे अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थकी भी अपेक्षा होती है, तो उसे यह भी मानना पड़ेगा कि ज्ञानको उत्पन्न करनेके लिए भी चित्तशुद्धिको अपनेसे अतिरिक्त किसी अन्य पदार्थकी भी अपेक्षा होती है ।

अतः प्रतिवादीको यह मानना चाहिए कि जीवमें भक्तिको प्राप्त करनेके लिए जो आद्यप्रवृत्ति होती है, उसका कारण केवल भगवदनुग्रह ही है; क्योंकि वह अन्यथा अनुपपन्न है ।

सिद्धान्तीके कथनका आशय यह है कि सृष्टिके प्रारम्भमें अथवा आधुनिक युगमें भी, भक्तिप्राप्तिके अन्य साधनोंके अभावमें भी, जीवोंमें होने वाली भक्तिकी प्राप्तिके लिए

ननु 'एवम् अपि मदुक्तम् एव अनुवदति भवान्; यतः अनुग्रहरूपसहकारिविशेषं प्राप्य सत्त्वशुद्धिः एव भक्तिं जनयति, अप्राप्य तं न ताम् इति वदति, अन्यथा शुद्धेः पूर्वम् एव भक्त्यु-

---

भ्रान्तः शङ्कते, ननु इति। शुद्ध्यनन्तरभावि **अनुग्रहरूपसहकारिविशेषं प्राप्य** इत्यर्थः। **तम्** अनुग्रहम् **अप्राप्य ताम्** भक्तिम् इत्यर्थः। **अन्यथा** इति। अनुग्रहसहकारिविलम्बनिबन्धनो भक्त्युत्पत्तिविलम्बो यदि न उच्यते तदा

प्राथमिक प्रवृत्तिको अनुग्रहेतर साधनोंके उपलब्ध न होनेके कारण केवल (साधनान्तरासहकृत) अनुग्रहसे ही जन्य मानना चाहिए, क्योंकि उसकी कोई अन्य उपपत्ति या व्याख्या सम्भव नहीं है। अतः पूर्वपक्षीको चाहिए कि वह भक्तिको केवल भगवदनुग्रहजन्य माननेके सिद्धान्तीके पक्षको स्वीकार कर ले।

यहाँ पूर्वपक्षी यह कह सकता है कि सिद्धान्तीका भक्तिकी प्राप्तिके लिए होने वाली आद्यप्रवृत्तिको अन्यथानुपपत्तिसे केवल अनुग्रहजन्य मानना ठीक नहीं कहा जा सकता क्योंकि अनुमान प्रमाणसे उक्त प्रवृत्तिको भगवदनुग्रहसे भिन्न (अन्य) साधनोंसे जन्य सिद्ध किया जा सकता है। इस अनुमानका स्वरूप अधोलिखित होगा। 'जीवकी भक्तिमें आद्यप्रवृत्ति अनुग्रहेतरसाधनपूर्विका होती है, क्योंकि यह भी भोजनादिकी क्रियाके समान एक क्रिया है।' सिद्धान्तीके अनुसार इस अनुमानके आधारपर पूर्वोक्त आद्यप्रवृत्तिको अनुग्रहेतरसाधनपूर्विका नहीं माना जा सकता; क्योंकि इस अनुमानका तुल्यबल प्रतिपक्षी अनुमान भी उपलब्ध है, जिसका स्वरूप अधोलिखित है। 'जीवकी भक्तिमें आद्यप्रवृत्ति अनुग्रहेतरसाधनपूर्विका नहीं है, क्योंकि यह प्रवृत्ति क्रियारूप होते हुए भी भोजनादिक्रियासे भिन्न प्रकारकी, भक्तिको प्राप्त करनेके लिए की जानेवाली नारदप्रह्लाद आदिकी क्रियाओंके समान एक अन्य प्रकारकी ही क्रिया है।' सिद्धान्ती का कहना है कि उसका यह अनुमान वेदानुगृहीत अर्थात् **"यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" (कठोप० १।२।३; मुण्ड० उप० ३।२।३)** इत्यादि श्रुतिवाक्यपर आधारित है, जबकि प्रतिवादीका अनुमान श्रुत्यनुगृहीत नहीं है, अतः उसका यह कहना ठीक नहीं है कि भक्तिकी प्राप्तिके लिए होनेवाली आद्यप्रवृत्तिको अनुमान द्वारा भगवदनुग्रहसे भिन्न अन्य साधनोंसे जन्य सिद्ध किया जा सकता है।

पूर्वपक्षीका कथन है कि इस प्रकार भी (अर्थात् भक्तिकी प्राप्तिके लिए होनेवाली आद्यप्रवृत्तिको अन्यथानुपपत्तिसे केवल भगवदनुग्रहजन्य मानकर भी) सिद्धान्ती वस्तुतः पूर्वपक्षीकी बातका ही पुनःकथन कर रहा है, क्योंकि वह (सिद्धान्ती) यही कह (अर्थात् प्रतिपादित कर) रहा है कि सत्त्वशुद्धि ही भगवदनुग्रहरूप सहकारी कारणको पाकर (उसके सहयोगसे) भक्तिको जन्म देती है, और उस (भगवदनुग्रहरूप सहकारी कारण) के अभावमें भक्तिको उत्पन्न नहीं करती। अन्यथा सत्त्वशुद्धि होनेके पहले ही भक्तिके उत्पन्न हो जानेका प्रसङ्ग अनिवार्यरूपसे आ उपस्थित होगा।

त्पत्तिप्रसङ्गस्य दुर्वारत्वम्,' इति चेत्, तर्हि आवश्यकत्वात् लाघवाच्च अनुग्रह एव तद्धेतुः अस्तु, कृतं शुद्ध्यादिभिः ।

उक्तदोषः स्याद् इत्यर्थः । **आवश्यकत्वाद्** इति । **'यमेवैष वृणुते'** (कठोप० १।२।२३; मुण्ड० उप०३।२।३) इत्यादिप्रमाणान्यथानुपपत्त्या अनुग्रहस्य सर्वकारणापेक्षया पूर्वभावित्वम् अवश्यम् अभ्युपेयम्, अत **आवश्यकत्वात्** । लघुनि प्रमाणानां पक्षपात इति न्यायाच्च । अनेकधर्मादीनां कारणत्वे गौरवं, तदपेक्षया वरम् एकस्य एव अनुग्रहस्य, तद्धेतोः एव अस्तु, किं तेन, इति न्यायाद् इत्यर्थः ।

पूर्वपक्षीके कथनका आशय यह है कि वह सत्त्वशुद्धिको भक्तिका मुख्य कारण मानता है और सिद्धान्ती भी वस्तुतः उसके इस मतका ही पुनःकथन करता प्रतीत होता है क्योंकि वह (सिद्धान्ती) यह कह रहा है कि सत्त्वशुद्धि अनुग्रहसहकृत होनेपर भक्तिको उत्पन्न करती है और अनुग्रहके अभावमें नहीं । इस प्रकार सिद्धान्ती भी मुख्य कारण तो सत्त्वशुद्धिको ही मान रहा है, अनुग्रह तो सहकारी और गौण कारण मात्र है । सिद्धान्ती ऐसा मानता है यह पूर्वपक्षी इसलिए कह रहा है कि उसके अनुसार यदि सिद्धान्ती ऐसा न माने कि भक्तिकी उत्पत्तिमें मुख्य कारण अनुग्रहसहकृत सत्त्वशुद्धि है तो उस (सिद्धान्ती) के सामने सत्त्वशुद्धि होनेके पहले ही भक्तिके उत्पन्न हो जानेका प्रसङ्ग अनिवार्यरूपसे उपस्थित हो जायेगा ।

पूर्वपक्षीकी इस बातको स्पष्ट करते हुए श्रीरघुनाथ कहते हैं कि यदि सिद्धान्ती यह नहीं मानेगा कि भक्तिकी उत्पत्तिमें मुख्य कारण सत्त्वशुद्धि और सहकारी कारण भगवद-नुग्रह है तथा इसमें (भक्तिकी उत्पत्तिमें) विलम्ब इस भगवदनुग्रहरूप सहकारी कारण पर ही निर्भर है तो उसके मतमें उपर्युक्त दोष अपरिहार्यरूपसे आ जायेगा ।

इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि जब पूर्वपक्षी यह मानते हैं कि सत्त्वशुद्धि भगवदनुग्रहरूप सहकारी कारणके होनेपर ही भक्तिको उत्पन्न करती है तो उन्हें चाहिए कि वे इस अनुग्रहको ही—भक्तिकी उत्पत्तिके लिए आवश्यक होनेके कारण तथा केवल अनुग्रहको ही भक्तिका उत्पादक माननेमें कल्पनालाघव होनेके कारण—भक्तिका हेतु मान लें । ऐसा मान लेनेसे उन्हें भक्ति की उत्पत्तिके लिए चित्तशुद्धि आदि (अनावश्यक कारणान्तरों) की अपेक्षा भी नहीं रहेगी ।

सिद्धान्तीके कथनका आशय यह है कि सत्त्वशुद्धिको भक्तिका कारण माननेमें भी भगवदनुग्रहको भक्तिकी उत्पत्तिमें सहकारी कारण मानकर पूर्वपक्षी उसकी कारणता तो स्वीकार करते ही हैं अर्थात् भक्तिको उत्पन्न करनेके लिए सहकारी कारणके रूपमें भगवदनुग्रहका होना तो वे भी आवश्यक मानते ही हैं । ऐसी दशामें सिद्धान्ती और पूर्वपक्षी के मतोंमें अन्तर यह है कि सिद्धान्तीके मतमें केवल अनुग्रह ही भक्तिका हेतु है जबकि पूर्वपक्षी अनुग्रहके साथ ही इससे अतिरिक्त सत्त्वशुद्धिरूप एक अन्य कारण मानकर भक्तिकी उत्पत्तिकी व्याख्या करते हैं । पूर्वपक्षीका मत माननेमें कल्पनागौरवरूप दोष

न च विनिगमकाभावाद् दण्डचक्रादेः घटकारणतावद् अत्र अपि वाच्यम्। तत्र अन्योऽन्यसापेक्षतया एव कार्यजनकत्वात्

यथा घटकारणदण्डचक्रकुलालादीनाम् एकत्र एव कारणता, वैशिष्ट्यनिश्चायकाभावाद् अविशेषेण सर्वेषां कारणत्वम्, एवम् अनुग्रहस्य अपि धर्मादिसहभावे एव किं न स्याद् ? इति आशङ्क्य, आह—**न च** इति। **तत्र** इति। घटोत्पत्तौ

आता है जबकि सिद्धान्तीके मतमें कल्पनालाघवरूप गुण है। जब अकेले अनुग्रहसे भक्तिकी उत्पत्तिकी व्याख्या हो सकती है तो अनुग्रहके साथ सत्त्वशुद्धिको आवश्यक मानकर कल्पनागौरवपूर्वक भक्तिकी उत्पत्तिकी व्याख्या करना न तो अपेक्षित ही है और न तर्क-सङ्गत ही, क्योंकि जैसाकि, **'लघुनि प्रमाणानां पक्षपातः'** एवं

'कल्पनागौरवं यत्र तं पक्षं नाद्रियामहे। कल्पनालाघवं यत्र तं पक्षं रोचयामहे॥'
आदि उक्तियोंसे स्पष्ट है प्रमाणानुसारी विचारक कल्पनालाघवका पक्ष ही स्वीकार करते हैं।

सिद्धान्तीका अभिप्राय यह है कि पूर्वपक्षीके लिए भक्तिके कारणोंमें भगवदनुग्रहको अन्य सभी कारणोंकी अपेक्षा पूर्ववर्ती मानना आवश्यक है, अन्यथा **'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः'** (कठोप० १।२।२३ मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादि श्रुतिवाक्योंकी उपपत्ति न हो सकेगी। और अनेक कारणोंकी अपेक्षा एक कारण माननेमें कल्पनालाघव होता है; अतः सत्त्वशुद्धि आदि अनेक धर्मोंको कारण माननेकी अपेक्षा एकमात्र भगवदनुग्रहको ही भक्तिका कारण मान लेना चाहिए।

पूर्वपक्षीका यह कहना भी ठीक न होगा कि जिस प्रकार घटका कारण कुम्हारके डण्डे एवं चाक आदिमेंसे किसी एकको न मानकर सभीको माना जाता है उसी प्रकार यहाँ भी (अर्थात् भक्तिकी कारणताके प्रसङ्गमें भी) मानना चाहिए, क्योंकि यहाँ भी भक्तिके विभिन्न कारणोंमेंसे किसी एक (अर्थात् भगवदनुग्रह) को ही कारण माननेका कोई निश्चायक हेतु या विनिगमक उपलब्ध नहीं होता।

यहाँ सिद्धान्ती पूर्वपक्षीद्वारा दी जानेवाली जिस युक्तिका उल्लेख कर रहा है उसका आशय यह है कि जिस प्रकार घटका कारण निश्चित करनेमें कुम्हारके दण्ड, चाक आदिमेंसे किसी एकको ही निश्चितरूपसे कारण कह सकना सम्भव न होनेसे सभीको मिलाकर, सारी कारणसामग्रीको, घटका कारण माना जाता है, उसी प्रकार भक्तिका कारण निश्चित करनेमें भगवदनुग्रह, सत्त्वशुद्धि आदिमेंसे किसी एकको, विशेषतः केवल भगवदनुग्रहको ही भक्तिका कारण मान सकनेमें कोई विनिगमक अर्थात् निश्चायक प्रमाण न होनेसे धर्माचरणजन्य सत्त्वशुद्धि आदिके साथ ही भगवदनुग्रहको (अर्थात् सम्पूर्ण कारणसामग्रीको) भक्तिका कारण मानना चाहिए, न कि केवल भगवदनुग्रहको ही।

पूर्वपक्षीका यह कहना इसलिए ठीक नहीं है कि घटके कारण एवं भक्तिके कारण का निश्चय करनेके प्रसङ्गोंमें मौलिक अन्तर है। घटरूप कार्यकी

तथात्वम् उच्यते, न इह तथा, साधनरहितानाम् अपि भक्ति-दर्शनात् ।

न च जन्मान्तरीयतदनुमानं तेषु इति वाच्यम्, इतरसाधन-

चक्रादीनां सहभावेन एव कार्यकारित्वं दृष्टम्, अतः तत्र दृष्टानुरोधेन तथा कल्पनम् उचितम्, प्रकृते तु न तथा, साधनराहित्येऽपि भक्तिसद्भावाद् इत्यर्थः।

ननु, 'समाप्तिदर्शनात् जन्मान्तरीयमङ्गलानुमानवद्, अत्र अपि भक्तिकार्य-दर्शनात्, तत्कारणं धर्मादिरूपं प्राक्तनं कल्प्यतां, तथा च न व्यभिचारः स्याद्' इत्यत आह—न च इति । इतर इति । अनुग्रहेतरसाधनानाम् इत्यर्थः । तथा

उत्पत्ति कुम्हारका दण्ड एवं चाक आदि अन्योऽन्यसापेक्ष होकर ही करते हैं अतः उन्हें सम्मिलित रूपमें घटका कारण कहा जाता है, किन्तु प्रकृत (अर्थात् भक्तिकी कारणताके) प्रसङ्गमें वैसा नहीं है, क्योंकि धर्माचरणजन्य सत्त्वशुद्धि आदि रूप साधनोंसे विरहित लोगोंमें भी भक्ति (उत्पन्न होती) देखी जाती है ।

सिद्धान्तीके कथनका आशय यह है कि कुम्हारका चाक और दण्ड आदि साथ मिलकर अन्योऽन्यसापेक्ष होकर ही घटादिको उत्पन्न करते देखे जाते हैं अतः सहकारिता एवं अन्योऽन्यसापेक्षता के प्रत्यक्ष ज्ञानके अनुरोधसे उनमेंसे किसी एकको घटका कारण न कह सकनेकी स्थितिमें सभीको कारण मान लेना तो उचित कहा जा सकता है, किन्तु भक्तिके कारणके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भगवदनुग्रह एवं वर्णाश्रम-धर्माचरणजन्य सत्त्वशुद्धिआदिरूप साधन सम्मिलितरूपसे अर्थात् अन्योऽन्यसापेक्ष होकर ही भक्तिको उत्पन्न करते हैं ऐसा नहीं दिखाया जा सकता । वस्तुतः अनेक लोगोंमें वर्णाश्रम-धर्माचरणजन्य सत्त्वशुद्धिआदिरूप साधनोंके अभावमें भी केवल भगवदनुग्रहसे ही भक्ति उत्पन्न होती देखी जाती है अतः केवल (अर्थात् साधनान्तरासहकृत या साधनान्तर-निरपेक्ष) भगवदनुग्रहको भक्तिका हेतु माननेमें कोई अनुपपत्ति नहीं है ।

सिद्धान्तीके इस मतके विरोधमें पूर्वपक्षीका कहना है कि अनुग्रहेतर साधनोंसे विरहित लोगोंमें भी भक्ति उत्पन्न होते देखकर सिद्धान्तीका यह मान लेना उचित नहीं है कि उनमें भक्ति केवल भगवदनुग्रहसे उत्पन्न हुई है । उनमें भक्ति उत्पन्न होनेकी व्याख्या यह मानकर भी की जा सकती है कि यद्यपि इस जन्ममें वे अनुग्रहेतर साधनोंसे विरहित हैं तथापि उन्होंने पूर्व जन्म या जन्मों में वर्णाश्रमधर्माचरणादिरूप साधनानुष्ठान किया था और इन साधनोंके अनुग्रहसहकृत हो जानेपर अब उनमें भक्तिरूप कार्य उत्पन्न हुआ है । वस्तुतः भक्तिरूप कार्यकी उत्पत्तिसे ही इस कार्यके कारणके रूपमें इन प्राक्तन धर्माचरणादिरूप साधनोंका अनुमान उसी प्रकार होता है जिस प्रकार मङ्गलाचरणके अभावमें भी ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्ति होते देखकर पूर्वजन्ममें मङ्गलाचरण किये गये होनेका अनुमान होता है । अतः कुछ लोगोंमें दृष्ट (अर्थात् इसी जन्ममें किये गये) वर्णाश्रम-धर्माचरणादिरूप साधनोंके अभावमें भी भक्ति उत्पन्न होती देखकर केवल भगवदनुग्रहको ही भक्तिका जनक माननेके बजाय उनके अदृष्ट या प्राक्तन (अर्थात् पूर्वजन्मके) धर्माचरणादिरूप साधनानुष्ठानकी कल्पना कर लेना अधिक उचित है । पूर्वपक्षीके इस कथनके विरोधमें सिद्धान्तीका कहना है कि—

निषेधश्रवणात् । तथा हि,

'न रोधयति मां योगो न साङ्ख्यं धर्म उद्धव[1] ।

न स्वाध्यायः तपः त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणाः ॥' (भाग०११।१२।१)

'व्रतानि यज्ञः छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।

यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम् ॥' (भाग० ११।१२।२)

'सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधानाः खगा मृगाः ।' (भाग० ११।१२।३)

इति उपक्रम्य, अग्रे भगवता उच्यते,

'ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ।

अव्रतातप्ततपसः सत्सङ्गान्मामुपागताः ॥' (भाग० ११।१२।७)

सति हेतोः स्फुटम् एव साध्याभाववद्वामित्वम् इति भावः । अनुमानप्रकारः तु, 'इयं भक्तिः साधनपूर्विका, भक्तित्वात्, साधनमार्गीयभक्तिवद्' इति । अत्र साध्याभावप्रमित्यर्थं 'न रोधयति मां योगः' (भाग० ११।१२।१) इत्यादि-प्रमाणप्रदर्शनं ज्ञेयम् ।

पूर्वपक्षीका यह कहना भी ठीक न होगा कि इस जन्ममें धर्माचरणादिरूप साधनानुष्ठनसे रहित लोगोंमें भी भक्ति उत्पन्न होते देखकर उनके द्वारा पूर्व-जन्ममें धर्माचरणादिरूप साधनोंका अनुष्ठान किये जानेका अनुमान कर लेना चाहिए, क्योंकि श्रीमद्भागवतमें अनुग्रहेतर साधनोंके भक्तिका हेतु होनेका निषेध किया गया है । भागवतके ग्यारहवें स्कन्धके बारहवें अध्यायके प्रारम्भमें भगवान् श्रीकृष्ण उद्धवसे कहते हैं, "हे उद्धव ! सारी आसक्तियोंको निवृत्त कर देनेवाला सत्सङ्ग जिस प्रकार मुझे वशमें कर लेता है, उस प्रकार कोई अन्य साधन (आसनप्राणायामादिलक्षण) योग (की साधना), (सत्वपुरुषान्यता-ख्यातिरूप) सांख्य या विवेक, (परोपकारादिरूप सामान्य) धर्म (का आचरण), वेदाध्ययन, (कृच्छ्रादिरूप) तप, संन्यास, इष्ट (अर्थात् अग्निहोत्रादिरूप वैदिक) एवं पूर्त (अर्थात् कूपारामादिनिर्माणरूप स्मार्त) कर्म, दान, (एकादश्युपवासादि रूप) व्रत, (देवपूजादिरूप) यज्ञ, (रहस्यमन्त्रादिरूप) छन्द, तीर्थ, (शौच-सन्तोषादिरूप) नियम तथा (अहिंसा-सत्यास्तेयादिरूप)यम—मुझे वशमें नहीं कर पाते । सत्सङ्गके द्वारा ही दैत्यों, राक्षसों, पशुओं एवं पक्षियों (ने मुझे प्राप्त किया है)" (भाग० ११।१२।१–३) इत्यादि वाक्य द्वारा उपक्रम करके भगवान् आगे कहते हैं, "उन लोगोंने न तो वेदोंका स्वाध्याय किया था और न विधिपूर्वक महापुरुषोंकी उपासना अर्थात् सेवा-शुश्रूषा ही की थी ।

---

१. भागवतके गीताप्रेससंस्करण एवं भक्तिहंस में इस श्लोकके द्वितीय चरणका पाठ 'न साङ्ख्यं धर्म एव च' है ।

'येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥' (भाग० ११।१२।८) इति। अत्र पूर्वोक्तानां जन्मान्तरीयतत्सत्त्वे, 'ते नाधीत…' (भाग० ११।१२।७) इत्यादिना तन्निषेधो नोपपद्यते।

ननु, 'श्रीगोकुलस्थानाम् अपि अन्यैः कैश्चिद् अपि अज्ञातः सुसूक्ष्मो धर्मादिः एव प्राक्तनो भविष्यति, इत्यतः न साध्याभावः' इति चेत्, न। एवं सति 'ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः।' (भाग० ११।१२।७)। इत्यादि सर्वज्ञेश्वरवचनं विरुद्ध्येत। न हि भगवतोऽपि अज्ञातपदार्थः कश्चन सम्भवति इति।

उन्होंने न तो कृच्छ्रचान्द्रायणादि व्रत किये थे और न कोई तपस्या ही की थी। केवल सत्सङ्गके प्रभावसे ही वे मुझे प्राप्त हो गये।" (भाग० ११।१२।७)। इसी प्रकार "गोपियों, गायों, लतागुल्मवृक्षादिसहित पर्वतों, हरिणादि पशुओं, कालियादि नागों तथा अन्य अनेक ऐसे प्राणियोंने भी जो (साधन-साध्य आदिके सम्बन्धमें) सर्वथा मूढबुद्धि थे, केवल प्रेमपूर्ण भावके द्वारा ही अनायास मुझे प्राप्त कर लिया और मुझे प्राप्त कर ये सभी सिद्ध अर्थात् कृतकृत्य हो गये।" (भाग० ११।१२।८) इत्यादि। पूर्वोक्त गोपियों आदिको जन्मान्तरीय (अर्थात् प्राक्तन जन्म या जन्मों में किये गये धर्माचरणादिजन्य सत्त्वशुद्धि आदिरूप) साधनसे युक्त मान लेनेपर भगवान्‌का 'उन्होंने वेदोंका स्वाध्याय नहीं किया था' (भाग० ११।१२।७) आदि वाक्य द्वारा उनके साधन-सम्पन्न होनेका निषेध करना अनुपपन्न हो जाता है अर्थात् इस निषेधकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

सिद्धान्तीके कथनका तात्पर्य यह है कि अनुग्रहेतर साधनोंसे विरहित लोगोंमें भी भक्ति उत्पन्न होते देखकर पूर्वपक्षी "यह भक्ति भी (अनुग्रहेतर) साधनपूर्विका है, क्योंकि साधनमार्गीय भक्तिकी ही भाँति यह भी भक्ति है" इस प्रकारके अनुमान द्वारा जन्मान्तरीय साधनानुष्ठानका अनुमान करते हैं, किन्तु उनका यह अनुमान सदोष है, क्योंकि इसमें प्रयुक्त 'भक्तित्व' हेतु विपक्षवृत्ति होनेसे व्यभिचारी (अर्थात् साधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास और इसीलिए व्याप्तिज्ञानका प्रतिबन्धक) है। यह हेतु विपक्षवृत्ति अर्थात् साध्याभाववद्‌गामी है (अर्थात् जो भक्ति अनुग्रहेतरसाधनपूर्विका नहीं होती उसमें भी भक्तित्व पाया जाता है), यह सिद्ध करनेके लिए सिद्धान्ती प्रमाणस्वरूप श्रीमद्भागवतके एतदर्थप्रतिपादक 'न रोधयति' (भाग० ११।१२।१) इत्यादि वाक्य उद्धृत करते हैं। गोकुलवासियोंका भी कोई प्राक्तन धर्माचरणादिरूप साधन रहा होगा अतः उनमें मिलनेवाली भक्ति भी अनुग्रहेतरसाधनपूर्विका ही है इस आशङ्काका निराकरण करनेके लिए सिद्धान्ती स्वयं सर्वज्ञ भगवान्‌के 'ते नाधीतश्रुतिगणाः' (भाग० ११।१२।७) इत्यादि वाक्य उद्धृत करते हुए यह स्पष्ट करते हैं कि यदि ऐसा कोई प्राक्तन साधन रहा होता तो सर्वज्ञ भगवान्‌को उसका ज्ञान अवश्य

किञ्च

'यन्न योगेन साङ्ख्येन दानव्रततपोऽध्वरैः ।
व्याख्यास्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि ॥' (भाग० ११।१२।९)

इति साधनरहितप्राप्तस्वरूपस्य इतरसाधनाप्राप्यत्वं श्रीगोकुलप्राणनाथेन उक्तम् इति अन्वयव्यतिरेकव्यभिचारोक्तेः न तद्धेतुत्वगन्धोऽपि। अत्र निःसाधनानां 'केवलेन हि भावेन'(भाग० ११।१२।८) इत्यादिना स्नेहभक्तिनिरूपणाद् भक्तेः तदसाध्यत्वम् अवसीयते।

व्यतिरेकव्यभिचारप्रदर्शनाय 'यन्न योगेन' (भाग० ११।१२।९) इत्यादि ज्ञेयम् । तत्र एवं ज्ञेयम्, यत्र साधनपूर्वकत्वाभावः तत्र भक्तित्वाभावः इति, गोकुलवासिषु एव साधनपूर्वकत्वाभावेऽपि भक्तिमत्त्वसद्भावात् ।

होता किन्तु स्वयं भगवान् ही उनके साधनरहित होनेकी बात कह रहे हैं, ऐसी दशामें गोकुलवासियों आदिकी भक्तिको अनुग्रहेतरसाधनपूर्विका माननेमें भगवान्‌के इन वाक्योंका और उनकी सर्वज्ञताका विरोध होगा। इसे और अधिक स्पष्ट करनेके लिए श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं—

इतना ही नहीं, "जिसे प्रयत्नशील साधक भी योग, सांख्य, दान, व्रत, यज्ञ, शास्त्रोंकी व्याख्या (अध्यापन), स्वाध्याय और संन्यास आदि साधनोंके द्वारा भी प्राप्त नहीं कर सकते" (भाग० ११।१२।९) इत्यादि वाक्योंमें स्वयं श्रीगोकुलके प्राणनाथ भगवान् श्रीकृष्णने साधनरहित व्यक्तियोंके द्वारा प्राप्त किये गये अपने स्वरूपके इतर साधनोंके द्वारा अप्राप्य होनेकी बात कही है। अतः पूर्वोक्त प्रकारसे अन्वय और व्यतिरेक का व्यभिचार होनेके कारण (वर्णाश्रमधर्माचरणजन्य सत्त्वशुद्धि आदिरूप अनुग्रहेतर) साधनोंमें भक्तिकी कारणताकी गन्ध भी नहीं मिल सकती अर्थात् अनुग्रहेतर साधनोंको भक्तिका हेतु कथमपि नहीं माना जा सकता। श्रीमद्भागवतके इस प्रकरणमें 'केवल स्नेहभावसे ही' (भाग० ११।१२।८) इत्यादि वाक्यसे भगवान् द्वारा निःसाधन (अर्थात् धर्माचरणादिजन्य सत्त्वशुद्धिआदिरूप, तथा स्वाध्यायादिरूप साधनोंसे विरहित) गोपियों आदिमें भी स्नेहभक्ति होनेका निरूपण किये जानेसे यह स्पष्ट एवं निश्चित रूपसे निर्णीत हो जाता है कि स्नेहभक्ति पूर्वोक्त अनुग्रहेतर साधनोंसे साध्य नहीं है।

'सिद्धान्तीके उपर्युक्त कथनोंसे तो ऐसा प्रतीत होता है कि भक्तिको साधनोंद्वारा साध्य या प्राप्य प्रतिपादित करनेवाले शास्त्रीय वाक्य सर्वथा निरर्थक हैं;' इस प्रकारकी पूर्वपक्षीकी आशङ्काका अपनोदन करनेके लिए सिद्धान्ती अग्रिम वाक्यमें पूर्वपक्षको प्रस्तुत करते हुए उसका समाधान करते हैं।

ननु 'जन्मान्तरसहस्रेषु'[1] इत्यादिवाक्यानां का गतिः ?

उच्यते। भगवता स्वप्राप्त्यर्थं मार्गद्वयं प्रकटितम् , मर्यादारूपं पुष्टिरूपञ्च ।

तत्र येषां जीवानां मर्यादायाम् अङ्गीकारः तेषां साधनक्रमेण एव भगवत्प्राप्तिः । यथा आसुरावेशिनाम् अपि मुक्ति

भक्तेः साधनसाध्यत्वप्रतिपादकवाक्यानां सर्वथा वैयर्थ्यम् आशङ्क्य समाधत्ते—भगवता इति ।

पूर्वपक्षीका कहना है कि यदि भक्तिको केवल अनुग्रहैकजन्य माना जायेगा और उसकी उत्पत्तिमें अन्य साधनोंकी कारणता स्वीकार न की जायेगी तो पूर्वोद्धृत 'दूसरे हजारों जन्मोंमें' इत्यादि शास्त्रवचनों—जिनमें जन्मान्तरमें किये गये तप, ध्यान और समाधि द्वारा निष्पाप मनुष्योंकी श्रीकृष्णमें भक्ति उत्पन्न होनेकी बात कही गयी है—की क्या गति होगी अर्थात् उनकी व्याख्या सिद्धान्ती किस प्रकार करेंगे ?

पूर्वपक्षीके कथनका आशय यह है कि उसके द्वारा उद्धृत शास्त्रीय वचन भक्तिकी उत्पत्तिके साधनके रूपमें तप, ध्यान एवं समाधि आदिको महत्त्वपूर्ण मानते हैं और इन वचनोंकी प्रामाणिकता सिद्धान्तीको भी स्वीकार ही है ऐसी स्थितिमें भक्तिको अनुग्रहैकजन्य माननेका सिद्धान्तीका मत स्वीकार कर लेनेपर इन वाक्योंके अनुपपन्न एवं अव्याख्येय हो जानेका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है; अतः इसका समाधान किये विना सिद्धान्ती भक्तिको अनुग्रहेतर साधनोंसे अलभ्य नहीं कह सकते। सिद्धान्ती भक्तिको अनुग्रहैकजन्य एवं साधनान्तरोंसे अलभ्य माननेके सिद्धान्तकी पुष्टि करते हुए तथा पूर्वपक्षीद्वारा उद्धृत वाक्योंकी उपपत्ति बताते हुए उसकी आशङ्काका समाधान करनेके लिए अपने मतकी विशद व्याख्या करनेमें प्रवृत्त होते हैं ।

सिद्धान्ती कहते हैं कि भक्तिकी प्राप्तिमें साधनोंका महत्त्व प्रख्यापित करनेवाले पूर्वपक्षीद्वारा उद्धृत (एवं उसी प्रकारके अन्य) वाक्योंकी हमारे मतमें सङ्गति कैसे है और हम उनकी व्याख्या किस प्रकार करते हैं, यह हमारे अधोलिखित विवेचनसे स्पष्ट हो जायेगा । भगवान्ने अपनी प्राप्तिके लिए—अर्थात् इन दोनों मार्गोंसे मेरे भक्त मुझे प्राप्त करें इस प्रकारके सङ्कल्पपूर्वक—दो मार्ग प्रकट किये जिनमेंसे प्रथम मर्यादामार्ग है और दूसरा पुष्टिमार्ग है ।

भगवान्ने जिन जीवोंको मर्यादामार्गमें अङ्गीकृत किया है अर्थात् जिन जीवोंके विषयमें यह सङ्कल्प किया है कि ये जीव मुझे मर्यादामार्गसे प्राप्त करें, उन जीवोंको भगवान्की प्राप्ति साधनक्रमसे ही होती है अर्थात् भगवदिच्छासे

---

१. देखिए, ऊपर पृष्ठ ३–४ टिप्पणी २.

ददत् (ददतः) स्वरूपं दृष्टवतोऽपि मुचुकुन्दस्य दोषवर्णनपूर्वकं तद्रहिताग्रिमजन्मनि स्वप्राप्तिकथनम् ।

येषाञ्च पुष्टिमार्गेऽङ्गीकारः तेषां केवलानुग्रहेण एव, न

येषाञ्च इति । पुष्टिः अनुग्रहः । तेषां केवलः साधनरहितो यो गुर्वनुग्रहः तन्मात्रेण एव भक्तौ प्रवेशः । यथा इति । गुर्वनुग्रहलभ्यत्वं व्रजातिरिक्तस्थले ज्ञेयम्, अन्यथा 'नोपासितमहत्तमाः' (भाग० ११।१२।७) इति विरुद्धयेत। व्रजादिस्थिताः इत्यत्र व्रज आदिः येषाम् इति जहत्स्वार्थलक्षणबहुव्रीहिणा

वे प्रथमतः साधनानुष्ठान करते हैं तदनन्तर उन्हें भगवत्प्राप्ति होती है; उदाहरणार्थ आसुर आवेशवालों (शिशुपाल आदि) को भी मुक्ति देनेवाले भगवान्‌का भगवत्स्वरूपका दर्शन करने वाले मुचुकुन्दके दोषोंका वर्णन करते हुए यह कहना कि 'तुम अगले जन्ममें इन दोषोंसे मुक्त होकर मुझे प्राप्त करोगे ।'

सिद्धान्ती अपने मतकी पुष्टिमें श्रीमद्भागवतके मुचुकुन्दके उपाख्यानका उदाहरण यह सिद्ध करनेके लिए दे रहे हैं कि भगवान्‌ने मुचुकुन्दको मर्यादामार्गमें अङ्गीकृत किया था । उनका आशय यह है कि भगवान्‌के दर्शनसे आसुर आवेश वालोंको भी मुक्ति मिल जानेके अनेक उदाहरण हैं फिर मुचुकुन्द—जो स्वयं भगवान्‌के ही कथनानुसार निर्मल बुद्धिके भगवद्भक्त थे[1] और जिन्होंने भगवान्‌की शरणमें जाकर उनसे रक्षा करनेकी प्रार्थना की थी[2]—को तो भगवान्‌के दर्शन होनेपर मोक्ष अवश्य मिल जाना चाहिए था किन्तु भगवान्‌ने जिस गुहामें वे सो रहे थे वहाँ तक जाकर भी[3] उनसे यही कहा कि 'तुमने इस जन्ममें क्षात्रधर्मका अनुसरण करते हुए मृगया आदिके रूपमें हिंसा की है, अतः पहले तुम मेरा आश्रय लेकर तप द्वारा तज्जन्य पापसे मुक्ति पा लो, फिर दूसरे जन्ममें सभी प्राणियोंके सुहृद् ब्राह्मणके रूपमें उत्पन्न होकर तुम मुझे प्राप्त करोगे[4] ।' इस प्रकार भगवान्‌ने उन्हें साक्षात् मुक्ति नहीं दी प्रत्युत उनके (मृगयादिमें की गयी हिंसासे जन्य) पापसे युक्त होनेकी बात कहकर उसे नष्ट करनेका उपदेश दिया क्योंकि उनका सङ्कल्प यह था कि मुचुकुन्द उन्हें साधनक्रमका अनुसरण करते हुए मर्यादा मार्गसे प्राप्त करें ।

और जिन्हें भगवान् पुष्टिमार्गमें अङ्गीकार करते हैं, उन्हें भगवान्‌की प्राप्ति

---

१. सार्वभौम महाराज मतिस्ते विमलोर्जिता ।
वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥ (भाग० १०।५१।५९) ।

२. शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्मन् !
अभयमृतमशोकं पाहि माऽऽपन्नमीश ॥ (भाग० १०।५१।५८) ।

३. सोऽहं तवानुग्रहार्थं गुहामेतामुपागतः । (भाग० १०।५१।४३) ।

४. क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून् न्यवधीर्मृगयादिभिः ।
समाहितस्तत्तपसा जह्यघं मदुपाश्रितः ॥ (भाग० १०।५१।६३) ।
जन्मन्यनन्तरे राजन् सर्वभूतसुहृत्तमः ।
भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मामुपैष्यसि केवलम् ॥ (भाग० १०।५१।६४) ।

साधनापेक्षा इति सिद्धान्तः । यथा व्रजादिस्थिताः ।

तत्र तत्र अङ्गीकारे च इच्छा एव हेतुः । स्वतन्त्रेच्छत्वात् नान्यनियम्यता ।

तथा च साधनवाक्यानि मर्यादामार्गपराणि इति ज्ञेयम् ।

व्रजस्य उपलक्षणत्वं ज्ञेयम् ।

तत्र तत्र इति । पुष्टिमर्यादयोः प्रवेशाप्रवेशयोः इत्यर्थः । एकस्य तथात्वे अन्यस्य अतथात्वे स्वतन्त्रेच्छा एव हेतुः ।

केवल भगवदनुग्रहसे ही हो जाती है तथा (उन्हें) साधनों (के अनुष्ठान) की अपेक्षा नहीं होती । यह सिद्धान्त अर्थात् सिद्धान्तीका मत है । पुष्टिमार्गमें अङ्गीकार किये गये जीवोंके उदाहरण व्रजादिमें वास करनेवाले वे साधनहीन जीव हैं, जिन्हें केवल भगवदनुग्रहसे ही भगवत्प्राप्ति हुई ।

सिद्धान्तीके कथनका आशय यह है कि जिन जीवोंके विषयमें भगवान् यह सङ्कल्प करते हैं कि ये मुझे पुष्टिमार्गसे प्राप्त करें, उन्हें साधनोंकी अपेक्षा नहीं होती प्रत्युत उन्हें केवल भगवदनुग्रहसे ही भगवत्प्राप्ति हो जाती है। सिद्धान्तीके इस मतकी पुष्टि 'ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः' (भाग० ११।१२।७) आदि वाक्योंमें साधनानुष्ठान विरहित व्रजवासियों आदिके केवल भगवदनुग्रहसे ही भगवान्के प्राप्त करनेका उल्लेख होनेसे होती है ।

किसी जीवको मर्यादामार्गसे या पुष्टिमार्गसे स्वीकृत करनेमें भगवदिच्छा ही हेतु है अर्थात् किस जीवको मर्यादामार्गका अनुसरण करते हुए भगवत्प्राप्ति होगी और किस जीवको पुष्टिमार्गका अनुसरण करते हुए भगवत्प्राप्ति होगी इसका नियमन केवल भगवदिच्छासे ही होता है। भगवान् जिसको चाहते हैं कि यह मुझे मर्यादामार्गसे प्राप्त करे, उसे मर्यादामार्गमें अङ्गीकृत करते हैं तथा जिसके विषयमें उनका सङ्कल्प होता है कि यह मुझे पुष्टिमार्गसे प्राप्त करे उसे पुष्टिमार्ग में अङ्गीकृत करते हैं। इस प्रकार किसीका मर्यादामार्ग या पुष्टिमार्ग में वरण करनेमें भगवदिच्छा ही हेतु है और यह भगवदिच्छा किसी अन्य तत्त्वसे प्रभावित या नियमित नहीं होती । भगवान् स्वतन्त्र इच्छावाले हैं और उन्हें या उनकी इच्छाको कोई नियमित या नियन्त्रित नहीं कर सकता ।

पूर्वोक्त प्रकारसे मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तके प्रतिपादन द्वारा सिद्धान्तीने भक्तिकी प्राप्तिमें साधनोंका महत्त्व प्रख्यापित करनेवाले आप्तवाक्योंकी अपने मतमें सङ्गति बतायी है, इसे स्पष्ट करते हुए श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं,

इस प्रकार साधनवाक्य (अर्थात् साधनोंके अनुष्ठान द्वारा भक्ति एवं भगवान् को प्राप्त करनेका उल्लेख करनेवाले आप्तवाक्य) मर्यादामार्गपरक हैं

तत्र अङ्गीकृतानां तथा एव प्रवृत्तिः, तथा एव फलञ्च ।

एतेन 'भक्त्यर्थिषु सदाचारोच्छेदप्रसङ्गः' इति दूषणं निरस्तं वेदितव्यम् ; येषु जीवेषु यथा भगवदिच्छा तथा एव तेषां प्रवृत्तेः आवश्यकत्वात् ।

एवं व्यवस्थितौ साधनसाध्यत्वप्रतिपादकवचनविरोधोऽधिकारिभेदेन एव परास्तः ।

अतएव न सदाचारोच्छित्तिदोषोऽपि इति तात्पर्यम् । येषु इति ।

ऐसा समझना चाहिए । भगवान् जिन्हें मर्यादामार्गमें अङ्गीकृत करते हैं अर्थात् जिनके विषयमें यह सङ्कल्प करते हैं कि ये मुझे साधनक्रमसे प्राप्त करें उनकी प्रवृत्ति उसी प्रकार होती है और वे उसी प्रकार फल प्राप्त करते हैं ।

इस प्रकार मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग के द्वैविध्यका प्रतिपादन कर उनके अधिकारियोंके भिन्न होनेके आधारपर सिद्धान्तीने भक्तिको साधनोंसे साध्य बतानेवाले आप्तवाक्योंके द्वारा भक्तिके भगवदनुग्रहैकलभ्य होनेके सिद्धान्तका विरोध होनेकी पूर्वपक्षीकी आशङ्काका समाधान यह कहकर कर दिया कि साधनों द्वारा भक्तिको साध्य बतानेवाले वाक्य मर्यादामार्गके अधिकारीकी दृष्टिसे कहे गये हैं और भक्तिके भगवदनुग्रहैकलभ्य होनेकी बात पुष्टिमार्गके अधिकारीकी दृष्टिसे कही जा रही है, अतः भक्तिको साधनोंसे साध्य बतानेवाले आप्तवाक्य पुष्टिमार्गीय सिद्धान्तीके भक्तिको भगवदनुग्रहैकलभ्य माननेके मतके विरोधी नहीं हैं ।

पूर्वपक्षीने ऊपर पृष्ठ १६ पर भक्तिको साधनसाध्य न मानकर केवल भगवदनुग्रहैकलभ्य माननेमें एक दोष यह बताया था कि ऐसा माननेवाले व्यक्तिकी समझमें धर्माचरण, सदाचार आदि भक्तिप्राप्तिके साधक न होनेके कारण अनुपयोगी हो जायेंगे और ऐसी दशामें भक्ति प्राप्त करनेके इच्छुक व्यक्तियोंमें सदाचारके नष्ट हो जानेका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित हो जायेगा । सिद्धान्तीका कहना है कि उसके द्वारा प्रतिपादित मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग के द्वैविध्य तथा इन मार्गोंके अधिकारियोंमें भेद होनेके सिद्धान्तसे पूर्वपक्षीद्वारा आशङ्कित उपर्युक्त दोषका भी अपनोदन हो जाता है, क्योंकि जिन जीवोंके विषयमें भगवान्‌की जिस प्रकारकी इच्छा होती है, उनकी प्रवृत्ति आवश्यकरूपसे उसी प्रकारकी होती है । यही बात स्पष्ट करते हुए श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं,

सिद्धान्तीके इस पूर्वोक्त (मर्यादा एवं पुष्टि के द्वैविध्य, द्विविध अधिकारियों एवं उनके भगवदिच्छाधीन होनेके) कथनद्वारा पूर्वपक्षीद्वारा ऊपर आशङ्कित भक्तिप्राप्तिके इच्छुक व्यक्तियोंमें सदाचारके नष्ट हो जानेका अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होनेका दोष भी निवृत्त या निराकृत हो जाता है क्योंकि जिन जीवोंके विषयमें भगवान्‌की जिस प्रकारकी इच्छा होगी उन जीवोंकी प्रवृत्ति अनिवार्यतया उसी प्रकारकी होगी ।

अत एव भक्त्यर्थिनां निःशङ्कप्रवृत्त्यभाव-प्रवृत्त्युच्छेदौ अपि निरस्तौ।

अपरञ्च,

'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।

अत एव इति। यतो भगवदिच्छाधीनत्वं प्रवृत्तेः अतो भगवता यो यस्मिन् मार्गे प्रवर्तितः स पुनः पुनः तदर्थम् एव यतते श्रद्धते च भगवदनुग्रहलब्धविश्वासात् निःशङ्कं साधने सदाचारे च प्रवृत्त्युपपत्तिः अपि इति भावः।

मर्यादामार्गीयव्यवस्थाम् उक्त्वा पुष्टिमार्गीयाम् आह—अपरञ्च इति।

सिद्धान्तीके कथनका तात्पर्य यह है कि जीवकी प्रवृत्ति भगवदिच्छाके अधीन है अतः भगवान् जिस जीवको जिस मार्गमें प्रवृत्त करते हैं उसकी उसी मार्गमें निष्ठा होती है और वह उस मार्गके अनुरूप आचरणमें भगवदिच्छाके कारण अनिवार्यतया प्रवृत्त होता है, फलतः उसके सदाचारविरहित होनेकी आशङ्का नहीं करना चाहिए।

सिद्धान्ती अपने इसी कथनसे उन दोनों दोषोंके भी निरस्त हो जानेका प्रतिपादन करते हैं जिनका उल्लेख पूर्वपक्षीने ऊपर पृष्ठ १४ पर किया है। वहाँ कहा गया है कि स्वविषयक भगवदनुग्रहके अस्तित्वका निश्चय कर सकना सम्भव न होनेके कारण व्यक्तिकी भगवदनुग्रह एवं तदधीन तथा तज्जन्य भक्ति को प्राप्त करनेके लिए श्रवणादिमें निःशङ्क प्रवृत्ति न होगी और यदि किसी प्रकार 'स्वविषयक अनुग्रह हो गया है' यह ज्ञान हो भी जाये तो भी व्यक्ति 'मुझपर भक्तिका कारणभूत भगवदनुग्रह हो गया है, अतः अब भक्ति तो मुझे अनायास ही प्राप्त हो जायेगी' यह सोचकर भक्तिको प्राप्त करनेके लिए कष्टसाध्य श्रवणादिरूप साधनमें प्रवृत्त न होगा। पूर्वपक्षी द्वारा आशङ्कित (निःशङ्क प्रवृत्तिके अभाव एवं प्रवृत्तिके उच्छेद) इन दोनों दोषोंका निरास भी सिद्धान्ती अपने इसी कथनसे हो गया बताते हुए कहते हैं,

इसीलिए अर्थात् उपर्युक्त प्रकारसे प्रवृत्तिके भगवदिच्छाधीन होनेके कारण पूर्वपक्षीद्वारा ऊपर आशङ्कित भक्तिकी प्राप्तिके लिए इच्छुक व्यक्तियोंकी श्रवणादिमें निःशङ्क प्रवृत्तिका अभाव एवं प्रवृत्तिका उच्छेद यह दोनों दोष भी निराकृत हो गये समझने चाहिए।

सिद्धान्तीके कथनका आशय यह है कि जीवकी प्रवृत्ति भगवदिच्छाधीन है तथा भगवान् जिस जीवको जिस मार्गमें प्रवृत्त करते हैं उसकी भगवदिच्छासे उसी मार्गमें श्रद्धा तथा श्रवणादिरूप साधनों एवं सदाचार में निःशङ्क प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्तिका उच्छेद नहीं होता। इस प्रकार सिद्धान्तीके मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग के द्वैविध्य और जीवके किसी मार्गमें अङ्गीकृत होनेके भगवदिच्छाधीन होनेके मतका प्रतिपादन करनेसे पूवपक्षीद्वारा आशङ्कित पूर्वोक्त दोषोंका समाधान हो जाता है।

एक बात और भी है। श्रीमद्भागवतके "इसलिए जो योगी मेरी भक्तिसे

न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥' (भाग० ११।२०।३१)
'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ॥' (भाग० ११।२०।३२)
'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥' (भाग० ११।२०।३३)
'न किञ्चित् साधवो धीरा भक्ता ह्येकान्तिनो मम ।
वाञ्छन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ॥' (भाग० ११।२०।३४)

इत्यादिवाक्यैः ज्ञानवैराग्यरहितानाम् एव भक्तिकथनाद् भक्तेः कल्पतरुस्वभावत्वेन इतरसकलसाधनसाध्यसाधकत्वोक्तेश्च नेतर-साधनसापेक्षता भक्तौ ।

ज्ञानवैराग्यरहितानाम् एव इत्यत्र तद्रहितानाम् अपि इति युक्तम्, नोचेत् तद्राहित्यम् अधिकारशरीरप्रविष्टं स्यात् । इतर-इति । अनुग्रहेतराणि यानि सर्वाणि साधनानि कर्माणि तैः प्रत्येकसमुदायाभ्यां साध्यं प्राप्यं यत्फलं तत्-साधकत्वं सर्वसाधनराहित्यसहितभक्तेः एव, न अन्यस्य, इत्यतो युक्तम् कल्प-तरुत्वम् ।

युक्त हैं और जिनका चित्त मुझमें ही लगा रहता है उन्हें प्रायः[1] श्रेयःप्राप्तिके साधनके रूपमें ज्ञान एवं वैराग्य की अपेक्षा नहीं होती । मेरा भक्त, मेरी भक्तिद्वारा उन सभी पदार्थोंको अनायास ही और शीघ्र ही प्राप्त कर लेता है जो कर्मों, तप, ज्ञान, वैराग्य, योग, दान, धर्म एवं अन्य (तीर्थयात्रा, व्रत आदि) कल्याणसाधनोंद्वारा प्राप्त होते हैं । यदि वह स्वर्ग, मोक्ष या मेरे लोकमें निवास की प्राप्तिकी इच्छा करे तो उसे भी (मेरी भक्तिसे ही) प्राप्त कर लेता है । मेरे साधु, धीर एवं एकान्ती (अनन्य) भक्त तो कुछ चाहते ही नहीं और मेरे देनेपर भी (दूसरी वस्तुओंकी तो बात ही क्या) वे अपुन-रुत्पादरूप कैवल्य भी नहीं लेना चाहते ।" (भाग० ११।२०।३१–३४) इत्यादि वाक्योंमें ज्ञान एवं वैराग्य से विरहित व्यक्तियोंमें भी भगवद्भक्ति होनेकी बात कही गयी है और भक्तिके कल्पतरुस्वभाव[2] होनेका प्रतिपादन करते हुए यह

---

१. गोस्वामिश्रीगिरिधरकृत बालप्रबोधिनी व्याख्याके अनुसार यहाँ 'प्रायः' पदके प्रयोगका स्वारस्य यह है कि मर्यादाभक्तिको ज्ञान एवं वैराग्य की अपेक्षा होती है किन्तु पुष्टिभक्तिको नहीं । (मर्यादाभक्तेः तत्सापेक्षत्वात् प्रायोग्रहणम्—भाग० बाल-प्रबोधिनी ११।२०।३१) ।

२. द्रष्टव्य, भक्तिहंस, पृष्ठ २०.

'भगवान् भजतां मुकुन्दो, मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्' (भाग० ५।६।१८) इति श्रीशुकवचनैः मुक्तिसाधनपूर्णानामपि भगवद्दाने भक्तिप्राप्तिः, अदाने च अप्राप्तिः, इति निरूपणादपि अनुग्रहेतरसाधनासाध्यत्वं भक्तौ निश्चीयते ।

उक्तमार्गद्वये च अङ्गीकारोऽनुग्रहेण एव इति न मर्यादा-

मुक्तिसाधन-इति । वशीकृतमुक्तीनां वशीकृतसाधनानाम् इत्यर्थः। मुक्तिहेतुपूर्णानाम् इति वा । यदि सा भक्तिः भगवदनुग्रहं विना प्रकारान्तरलभ्या अपि स्यात् तदा सर्वदुर्लभमोक्षपर्यन्तं धावद्भिः किमिति न प्राप्ता ? 'सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।' (गीता ४।३३) इति गीतावचनात् मुक्तेः अपि प्रार्थ्यभक्तौ च अनुग्रहेतरासाध्यत्वम् इति भावः ।

उक्तमार्ग-इति । पुष्टिमर्यादयोः इत्यर्थः । वस्तुतो मूलान्वेषणे क्रियमाणे मर्यादामार्गेऽपि भक्तिः अनुग्रहैकलभ्या, न साधनलभ्या । साधनकथनं तु अनुग्रहरूपकल्पवृक्षस्य शाखाविस्तार एतावान् इति ज्ञापनार्थम् , न तु स्वा-

---

बताया गया है कि भक्ति कल्पतरुस्वभाव होनेसे अनुग्रहेतर सारे साधनोंसे साध्य फलोंकी साधिका है; अतः उसे श्रेयःप्राप्तिके अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं है ।

सिद्धान्तीके कथनका तात्पर्य यह है कि भगवदनुग्रहेतर जितने भी साधन हैं उनसे जो कुछ भी मिल सकता है वह सब केवल भक्तिसे ही प्राप्त हो जाता है अतः भक्तिको भगवदनुग्रहसे भिन्न अन्य किसी भी साधनकी अपेक्षा नहीं है ।

श्रीशुकके "भगवान् श्रीकृष्ण (मर्यादामार्गसे अपनी अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णकी) भक्ति करनेवालोंको मुक्ति भी दे देते हैं, किन्तु अपनी (पुष्टिमार्गीय स्नेहलक्षणा) भक्ति नहीं देते ।" (भाग० ५।६।१८) इत्यादि वाक्योंमें यह निरूपित किया गया है कि मुक्तिके साधनोंसे युक्त व्यक्तियोंको भगवद्भक्तिकी प्राप्ति तभी होती है जब भगवान् उन्हें अपनी भक्ति प्रदान करते हैं अन्यथा अर्थात् यदि भगवान् उन्हें भक्ति प्रदान न करें, तो उन्हें वह (अर्थात् भगवान्‌की भक्ति) प्राप्त नहीं होती । इससे भी यह बात निश्चित हो जाती है कि भक्ति भगवदनुग्रहसे भिन्न अन्य सभी साधनोंसे असाध्य है अर्थात् भगवदनुग्रहसे इतर किसी भी साधनसे उत्पन्न या प्राप्त नहीं हो सकती ।

यदि भक्ति अनुग्रहेतर किसी अन्य साधनसे प्राप्त होनेवाली होती तो अतिदुर्लभ मोक्ष प्राप्त कर सकनेके अधिकारी लोगोंको तो वह प्राप्त हो ही जानी चाहिए थी, किन्तु मोक्षाधिकारियोंको भी भक्तिकी प्राप्ति केवल भगवदनुग्रहसे ही होती है, अन्यथा नहीं; इससे स्पष्ट है कि भक्ति अनुग्रहेतर साधनोंसे प्राप्य नहीं है ।

मार्गेऽपि भक्तेः साधनबलसाध्यत्वम् ; अन्यथा 'जायस्व म्रियस्व' (छान्दो० उप० ५।१०।८) इति तृतीयमार्गे एव अङ्गीकारं कथं न कुर्यात् ?

तन्त्र्येण भक्तिजनकत्वकथनार्थम्, इदं तु त्वयापि भक्तिमार्गीयेण अवश्यम् अभ्युपेयम् इति तु रहस्यम् । अन्यथा इति । भगवदनुग्रहं विना साधनानां भक्तिजनकत्वोक्तौ 'जायस्व म्रियस्व' (छान्दो० उप० ५।१०।८), 'मृत्वा पुनर्मृत्युमापद्यन्ते अद्यमानाः स्वकर्मभिः' इत्याद्युक्तो यः तृतीयमार्गः प्रवाहाख्यः तत्रापि कथं नाङ्गीकारं कुर्यात्, साधनमात्राचरणस्य तुल्यत्वाद् इत्यर्थः ।

पूर्वोक्त दोनों मार्गोंमें अर्थात् मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग में भी भगवान् व्यक्तिको अनुग्रहसे ही अङ्गीकार करते हैं, अतः मर्यादामार्गमें भी भक्ति अनुग्रहैकलभ्य ही है साधनानुष्ठानके बलसे साध्य या प्राप्य नहीं ।

सिद्धान्तीके कथनका तात्पर्य यह है कि मर्यादाभक्ति एवं पुष्टिभक्ति इन दोनोंकी ही प्राप्ति भगवदनुग्रहसे ही होती है । यह समझना ठीक न होगा कि मर्यादाभक्तिकी प्राप्ति साधनानुष्ठानसे होती है और पुष्टिभक्तिकी प्राप्ति भगवदनुग्रहसे । वस्तुतः मर्यादाभक्तिकी प्राप्ति भी साधनोंके बलसे नहीं भगवान्‌के अनुग्रहसे ही होती है । जहाँ कहीं मर्यादामार्गमें साधनानुष्ठानका विधान है उसका तात्पर्य केवल यह सूचित करना है कि अनुग्रहरूप कल्पवृक्षकी शाखाओंका विस्तार इतनी दूर तक है अर्थात् भगवान्‌का सङ्कल्प यह है कि यह जीव अमुक साधनानुष्ठान करके भक्ति प्राप्त करे; उसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि उन साधनोंमें स्वतन्त्ररूपसे भक्तिको उत्पन्न कर सकनेकी सामर्थ्य है । यदि ऐसा न हो अर्थात् यदि मर्यादामार्गमें भी भक्ति अनुग्रहैकलभ्य न होकर साधनानुष्ठान-जन्य हो तो मर्यादामार्ग एवं प्रवाहमार्ग में भेद ही क्या रह जायेगा ? यही बात कहते हैं ।

अन्यथा अर्थात् यदि मर्यादामार्गमें भक्ति अनुग्रहैकलभ्य न होकर साधनानुष्ठानसाध्य होती तो भगवान् मर्यादामार्गमें अङ्गीकृत व्यक्तिको पुष्टि एवं मर्यादा इन दोनों मार्गोंसे भिन्न 'जायस्व म्रियस्व' (छान्दो० उप० ५।१०।८) इत्यादिरूप तीसरे अर्थात् प्रवाह मार्गमें ही अङ्गीकृत क्यों न करते ?

सिद्धान्तीका आशय यह है कि साधनानुष्ठान तो मर्यादामार्गमें एवं प्रवाहमार्गमें समानरूपसे पाया जाता है किन्तु दोनोंमें अन्तर यह है कि मर्यादामार्गीय साधनानुष्ठान इसलिए किया जाता है कि भगवान्‌की ऐसी इच्छा होती है कि यह जीव इन-इन साधनोंका अनुष्ठान करे और उनका फल प्राप्त करता हुआ मुझे प्राप्त करे, परन्तु प्रवाहमार्गीय साधनानुष्ठानमें ऐसा नहीं होता । मर्यादामार्गीय साधनानुष्ठानको स्वतन्त्र-रूपसे भक्तिजनक माननेपर उसे प्रवाहमार्गीय साधनानुष्ठानके समान ही मानना होगा और यदि भगवान्‌को यही अभिप्रेत होता तो वे मर्यादामार्गमें अङ्गीकृत किये जानेवाले जीवोंको प्रवाहमार्गमें ही क्यों न अङ्गीकृत करते ? इससे यही निष्कर्ष

पुष्टौ साधनानां व्यभिचाराद् एव न हेतुत्वं शङ्कितुम् अपि शक्यम् इत्यलम् उक्तिभिः ।

एवं सति साधनमार्गकरणं यतः तद्वक्ष्यते ।

'पोषणं तदनुग्रहः'[1] (भाग० २।१०।४) इति वाक्यात् पोषण-

ननु अनुग्रहस्य उभयत्र अपि आवश्यकत्वे मर्यादायाम् एव साधनोपदेशः पुष्टौ अपि कथं न इत्यत आह—**पुष्टौ** इति । **'न रोधयति मां योगः'** (भाग० ११।१२।१) इत्यादिपूर्वोक्तवचनैः **साधनानां** व्यभिचारित्वम् अन्वयव्यतिरेकाभ्यां स्फुटम् एव, अतः तत्र तद्धेतुत्वं **शङ्कितुम्** अपि असम्भावि इति सिद्धान्तः ।

एवं सति इति । अनुग्रहैकलभ्यत्वे तुल्येऽपि सति मर्यादायां यत् साधन**मार्गस्य** साधनाचरणस्य **करणम्** उपदेशो येन अभिसन्धिना तद् वक्ष्यते पूर्वं ज्ञापितम् अपि **वस्तुतः तु** इत्यादिना स्फुटं कथयिष्यते इत्यर्थः ।

स्वैकदेशिमतं निरस्यति—**पोषणम्** इति । सर्गविसर्गादिवद् अनुग्रहस्य

निकलता है कि मर्यादामार्गमें भी भक्ति साधनानुष्ठानके स्वतन्त्र बलसे नहीं प्रत्युत भगवदनुग्रहसे ही प्राप्त होती है ।

पूर्वपक्षी शङ्का करता है कि यदि फलसमर्पक भगवदनुग्रह मर्यादा एवं पुष्टि दोनों मार्गोंमें समानरूपसे आवश्यक है तो साधनानुष्ठानका उपदेश मर्यादामार्गमें ही क्यों प्राप्त होता है पुष्टिमार्गमें क्यों नहीं ? सिद्धान्ती इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि हम पहले ही बता आये हैं कि अनुग्रहेतर साधनोंके होनेपर भी भक्तिके न होने और उनके (साधनोंके) न होनेपर भी भक्तिके होने के उदाहरणोंसे स्पष्ट हो जाता है कि साधनानुष्ठानको—अन्वय एवं व्यतिरेक उभयविध व्यभिचार होनेके कारण—भक्तिका हेतु या जनक नहीं माना जा सकता । इसीलिए श्रीविट्ठलनाथ कहते हैं,

पुष्टिमार्गमें साधनोंका (अन्वय एवं व्यतिरेक से) व्यभिचार उपलब्ध होनेके कारण साधनोंको भक्तिका हेतु या जनक माननेकी सम्भावना भी नहीं की जा सकती । इस प्रकार भक्ति अनुग्रहेतर साधनानुष्ठानप्राप्य नहीं है यह सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है और इसके लिए अन्य प्रमाणोंकी अपेक्षा नहीं रह जाती ।

इसप्रकार मर्यादामार्ग एवं पुष्टिमार्ग दोनोंमें भक्तिके समानरूपसे अनुग्रहैकलभ्य होनेपर भी मर्यादामार्गमें साधनानुष्ठानका उपदेश जिस आशयसे दिया गया है उसे हम आगे चलकर ('वस्तुतस्तु' इत्यादि वाक्य द्वारा पृष्ठ ३९ पर) स्पष्ट करेंगे ।

---

१. पुष्टिं लक्षयति—**तदनुग्रह** इति । तस्य वैकुण्ठस्य जितेषु स्वाधीनीकृतेषु योऽयम् अनुग्रहः तेषु मर्यादार्थं सप्त पृथक्कृत्य शिष्टेषु अनुग्रहः । महाभूतेषु आत्मद्वये च न अनुग्रहः, तत्र मर्यादा एव । (भाग० सुबो० २।१०।४) ।

लीलायाः स्वतन्त्रत्वात् 'यस्यानुग्रहमिच्छामि'[1] इति वाक्याच्च अनुग्रहो धर्मान्तरम् एव। अनुग्रहानुरूपा च इच्छा सर्वत्र सहकारिणी।

अपि धर्मान्तरत्वम् एव उचितम्। तथा सति **अनुग्रहानुरूपा** अनुग्रहपूर्विका भक्तकार्येच्छा सा **सर्वत्र** तत्तन्मार्गीयभक्तकार्यमात्रे **सहकारिणी** कारणान्तरम् अपेक्ष्य कार्यजनिका इत्यर्थः। भक्तिरूपे कार्ये परम् इयान् विशेषो यद् अन्यनिरपेक्षानुग्रहसाध्यत्वम् इति अर्थः।

अब श्रीविट्ठलनाथ एकदेशीके मतके निरसनमें प्रवृत्त होते हैं।

सिद्धान्तीका कथन है कि 'पोषण या पुष्टि भगवान्‌के अनुग्रहको कहते हैं' (भाग० २।१०।४) इत्यादि वाक्यसे ज्ञात होता है कि (जिस प्रकार सर्ग, विसर्ग आदि भगवान्‌की स्वतन्त्र लीलाएँ हैं उसी प्रकार) पोषण या अनुग्रह भी भगवान्‌की एक स्वतन्त्र लीला है (जो इच्छासे भिन्न है)। इसी प्रकार भगवान्‌के 'मैं जिसपर अनुग्रह करनेकी इच्छा करता हूँ (उसके धन-वैभवादिरूप साधनोंको शनैः-शनैः अपहृत कर लेता हूँ)' इत्यादि वाक्यमें अनुग्रह एवं इच्छा का पृथक्-पृथक् निर्देश होनेसे यह सिद्ध होता है कि अनुग्रह (सर्ग, विसर्ग आदिकी ही भाँति) भगवान्‌का (इच्छासे भिन्न) एक अन्य ही धर्म है और भगवान्‌की यह अनुग्रहानुरूप (अर्थात् अनुग्रहपूर्विका या अनुग्रहजनयित्री) इच्छा (भगवान् द्वारा किये जानेवाले अनुग्रहके अनुरूप) तत्तत् कार्योंमें सर्वत्र सहकारी कारण होती है।

सिद्धान्तीके अनुसार श्रीमद्भागवतके,

श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोर्जया।
विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्[2]॥ (भाग० १०।३९।५५)

इस श्लोकमें भगवान्‌की बारह मुख्य शक्तियोंका उल्लेख है। श्रीवल्लभाचार्यकृत सुबोधिनी व्याख्याके अनुसार इनमेंसे पुष्टिसे तात्पर्य अनुग्रहसे है और शक्तिसे अभिप्राय सर्वनियामिका इच्छाशक्तिसे है[2]। इस प्रकार यहाँ इच्छा एवं अनुग्रह को एक दूसरेसे पृथक् माना गया है। इसी दृष्टिसे सिद्धान्तीका कथन है कि अनुग्रह, इच्छासे भिन्न है। भगवान्-

---

१. मिलाइए, 'तं भ्रंशयामि सम्पद्भ्यो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम्।' (भाग० १०।२७।१६)।
ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम्। (भाग० ८।२२।२४)।

२. भगवतः सर्वकार्यसाधिका द्वादश शक्तयः, ता अपि दृष्टवान् इत्याह—श्रिया इति। श्रीः लक्ष्मीः, श्र्यादिभिः निषेवितम्। पुष्टिः नाम यया सर्वे पुष्टा भवन्ति, सा यत्र न प्रविशति ते ब्रह्मादयः अपि न पुष्टा भवन्ति। एवं सर्वत्र।... शक्तिः इच्छाशक्तिः, एषा सर्वनियामिका। (भाग० सुबो० १०।३९।५५)।

सहकारिनिरपेक्षानुग्रहसाध्या भक्तिः इत्यपि गुडजिह्विका। वस्तुतः तु कार्यमात्रम् इच्छाधीनम् एव इति त्वया अपि

(गुडजिह्विका इति।) आपातरमणीयम् इत्यर्थः। अत्र अस्वरसबीजं कार्यमात्रस्य इच्छाधीनत्वेऽनुग्रहस्य अपि कार्यत्वात् तदिच्छाधीनत्वम् एव उचितम्। तस्माद् अवान्तरव्यापारत्वम् एव अनुग्रहस्य भक्तौ जनयितव्यायां, कारणं तु इच्छा एव इति भावः।

वस्तुतः तु इति। सहकारिनिरपेक्षानुग्रहवादिना अपि उररीकार्यम्

की इच्छा सारे कार्योंका सहकारी कारण है और भगवान् अनुग्रहद्वारा जो कार्य करते हैं उनमें भी वह सहकारी कारण है; अतः भक्तिकी उत्पत्तिमें अनुग्रह मुख्य कारण और इच्छा सहकारी कारण है, यह सिद्धान्तीका मत है। इसके विपरीत एकदेशीका कहना है कि भक्तिको अनुग्रहैकजन्य माननेमें भगवदिच्छाको सहकारी कारण माननेकी भी आवश्यकता नहीं है। एकदेशीके इस पक्षके उत्तरमें सिद्धान्तीका कथन है कि,

एकदेशीका यह कथन कि भक्ति अनुग्रहैकसाध्य है और उसे उत्पन्न होनेके लिए भगवदिच्छारूप सहकारी कारणकी भी अपेक्षा नहीं है, आपातरमणीय और क्षणमात्रस्थायी है।

मूलमें प्रयुक्त 'गुडजिह्विका' पदका आशय यह है कि एकदेशीके इस कथनपर कि भक्तिकी उत्पत्तिमें भगवदिच्छारूप सहकारी कारणकी भी अपेक्षा नहीं है सिद्धान्तीको यही कहना है कि एकदेशीका यह मत उतनी ही देर टिक सकता है जितनी देर जिह्वापर गुड़का स्वाद रहता है अर्थात् यह मत आपातरमणीय या अविचारितरमणीय है तथा विचार करनेपर खण्डित हो जाता है,[1] क्योंकि वस्तुस्थिति यह है कि कार्यमात्र भगवदिच्छाके अधीन हैं।

सिद्धान्तीके अनुसार एकदेशीके मतमें दोष यह है कि वह भक्तिकी उत्पत्तिमें भगवदिच्छाको (सहकारी) कारण माननेका निषेध करता है जबकि (कार्यमात्रके भगवदिच्छाधीन होने तथा अनुग्रहके भी कार्यरूप होनेसे) अनुग्रहको भी भगवदिच्छाधीन मानना ही उचित होनेके कारण भक्तिकी उत्पत्तिमें अनुग्रहको (भगवदिच्छाधीन या भगवदिच्छाजन्य होनेके साथ ही भगवदिच्छाजन्य भक्तिका जनक होनेके कारण, **'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम् अवान्तरव्यापारत्वम्'** इस लक्षणके अनुसार) अवान्तर व्यापार एवं भगवदिच्छाको कारण मानना चाहिए।

सिद्धान्तीका कहना है कि वस्तुतः तो कार्यमात्र भगवदिच्छाके ही अधीन हैं, ऐसा तुम्हें (अर्थात् भगवदिच्छारूप सहकारी कारणकी भी अपेक्षा न रखने-

१. Sir Monier Monier-Williams की 'A Sanskrit-English Dictionary' के पृष्ठ ३५६ के अनुसार 'गुडजिह्विका' पद 'गुडजिह्विकान्याय' का संक्षिप्त रूप है। इस न्यायका अर्थ है, 'rule of the sugar and the tongue', transitory impression soon lost, momentary opinion. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य ८।१६ की टीकामें इसका प्रयोग इसी अर्थमें हुआ है।

उररीकार्यम्। तथा हि, यदा यदा यद् यत् कार्यं भवति, भावि, अभूद्वा, तत्तत्कालोपाधौ क्रमिकेण एव तेन तेन हेतुना तत्तत् कार्यं करिष्य इति ततः पूर्वं भगवदिच्छा अस्ति, आसीद् इति वा मन्तव्यम्। अन्यथा तच्चिकीर्षामात्रस्य नित्यत्वेन युगपत् सकलकार्योत्पत्तिप्रसङ्गः।

न च इतरकारणासमवधानात् न तथा इति वाच्यम्; तस्य

अङ्गीकर्तव्यम् इत्यर्थः। तत्र उपपत्तिप्रकारम् आह—**तथा हि** इति। **यदा** इति। यस्मिन् यस्मिन् काले। येन येन इत्यपि ज्ञेयम्। वीप्सायां द्विरुक्तिः। **यद् यद्** इति कार्यनिर्देशः। मुख्यकर्तुः भगवत एकत्वेन वीप्साविषयत्वाभावात् कर्म एव कर्तृत्वेन विवक्षितम्। **भवति** इति वर्तमानकालोपाधिः, **भावी** इति भविष्यत्कालोपाधिः, **अभूद्** इति अतीतकालोपाधिः। एतेषु यथायथं **क्रमिकेण एव** क्रमप्राप्तेन एव हेतुना, तत्तत् कार्यं करोमि, करिष्यामि इति एवं प्रकारिका **भगवदिच्छा अस्ति आसीद् इति मन्तव्यम्**, सत्यसङ्कल्पत्वाद् भगवतः। **ततः पूर्वम्** तत्तत्कार्योत्पत्तेः प्राग् एव इत्यर्थः। **अन्यथा** इति। कालोपाधिक्रमिककार्यानङ्गीकारे। साधारणकारणचिकीर्षाया एव हेतुत्वे प्राप्ते, तत्कार्यकारणोभयविषयिण्योः तयोः सर्वदा सत्त्वाद्, एककालम् एव सकलकार्योत्पत्तिप्रसङ्गदोषः प्रसज्येत इत्यर्थः।

ननु, दण्डादिषु एकस्य असत्त्वेऽपि घटानुत्पत्तिवद्, अत्र अपि चिकीर्षेतरकारणासमवधानात्, न युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः, इत्यत आह—**न च** इति। **तस्य**

वाले अनुग्रहको भक्तिका जनक माननेवाले एकदेशीको) भी स्वीकार करना ही चाहिए। इस प्रकार जब-जब जो-जो कार्य होता है, होगा या हुआ है, उसके (अर्थात् तत्तत्कार्यकी उत्पत्तिके) पहले, 'उस-उस समयमें क्रमशः उन-उन हेतुओंसे उस-उस कार्यको करूँगा', इस प्रकारकी भगवदिच्छा होती है या थी ऐसा मानना चाहिए। अन्यथा अर्थात् ऐसा (अर्थात् कार्योंके कालोपाधिपूर्वक क्रमिक रूपमें होनेका सिद्धान्त) न मानकर, भगवान्‌की चिकीर्षा (अर्थात् कार्य करनेकी इच्छारूप साधारण कारण) मात्रको तत्तत्कार्योंका कारण मान लेनेपर, भगवान्‌की चिकीर्षाके नित्य होनेके कारण सभी कार्योंके एक ही साथ उत्पन्न हो जानेका अनिष्टप्रसङ्ग आ उपस्थित होगा।

एकदेशी अपने मतके समर्थनके लिए इस दोषके अपनयनका जो उपाय बताते हैं वह भी अकिञ्चित्कर है यह स्पष्ट करते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि,

एकदेशीका यह कहना भी ठीक न होगा कि नित्य चिकीर्षाके होते हुए भी

अपि कार्यत्वेन तच्चिकीर्षाया अपि पूर्वम् अवश्यं वाच्यत्वात्, तस्याः कार्यमात्रे कारणत्वात् तदपि युगपत् स्यात्।

न च तत्पूर्वक्षणः प्रतिबन्धक इति वाच्यम्, तत्प्रागभावकालेऽग्रिमकार्योत्पत्तिप्रसङ्गात्।

अपि इति चिकीर्षेतरकारणसमवधानस्य अपि इत्यर्थः। समवधानस्य अपि कार्यत्वात् तत्कारणचिकीर्षायाः पूर्ववद् अत्र अपि सत्त्वात् पुनः उक्तदोष एव इत्यर्थः।

ननु प्रतिबन्धकसत्त्वात् तत्र न कार्योत्पत्तिः इति चेत्, तत्र आह—न च इति। तत्पूर्वक्षणः इतरकारणसमवधानाव्यवहितपूर्वक्षणः इत्यर्थः। तत्प्रागभावकाले इति। सामग्रीसमवधानाव्यवहितपूर्वक्षणात् प्राक्काले प्रतिबन्धकाव्यवहितपूर्वक्षणस्य असत्त्वात् तदानीं कार्योत्पत्तिप्रसङ्गः इत्यर्थः।

विभिन्न कार्योंकी उत्पादिका इतर (अर्थात् चिकीर्षासे भिन्न, अन्य) कारणसामग्रीके सन्निहित न होनेके कारण सभी कार्य एक साथ उत्पन्न नहीं होते और इसीलिए सिद्धान्तीद्वारा बताया जानेवाला पूर्वोक्त दोष उसके (पूर्वपक्षीके) मतपर लागू नहीं होता।

एकदेशीके कथनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मृत्तिकादिके रहते हुए भी दण्डादिरूप किसी एक भी कारणके अभावमें घटरूप कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती है, उसी प्रकार भगवान्की नित्य चिकीर्षाके होते हुए भी विभिन्न कार्य इतर (चिकीर्षासे भिन्न, अपनी उत्पादक अन्य) कारणसामग्रीके सन्निहित न होनेके कारण (उस इतरकारणसामग्रीके अभावमें), एक साथ उत्पन्न नहीं होते; और इस प्रकार सिद्धान्तीद्वारा बताया जानेवाला 'सभी कार्योंके एक साथ उत्पन्न हो जानेका अनिष्टप्रसङ्गरूप दोष' एकदेशीके मतमें नहीं है।

एकदेशीके इस कथनको अस्वीकार करनेका कारण बताते हुए सिद्धान्ती कहते हैं कि—

इतर (अर्थात् भगवच्चिकीर्षासे भिन्न) कारणसामग्रीका समवधान (अर्थात् सन्निहित होना) भी कार्य ही है अतः उसकी उत्पत्तिके पहले उसकी चिकीर्षाको भी (एकदेशीको) अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा और भगवच्चिकीर्षाके कार्यमात्रका कारण होनेसे (कारणसमवधानके भी उसी नित्यचिकीर्षासे जन्य होनेके कारण) सभी कार्योंके युगपत् उत्पन्न होनेका पूर्वोक्त दोष एकदेशीके मतमें यथावत् बना ही रहेगा।

एकदेशीका यह कहना भी ठीक नहीं है कि इतरकारणसमवधानरूप कार्यकी उत्पत्तिमें उसके अव्यवहित पूर्वक्षणको प्रतिबन्धक मान लेनेसे उपर्युक्त दोषका परिहार हो सकता है; क्योंकि ऐसा माननेपर उस अव्यवहित पूर्वक्षणसे पहलेके

न च तत्तत्क्षणाधिकरणकतत्तत्कार्यं प्रति तत्तत्प्रागभावावच्छिन्नस्थूलकालोपाधिस्तथा, सृष्टौ प्रलयकाल इव इति वाच्यम्, एवं हि प्रलयाभावस्य सृष्टौ हेतुत्वमिति तत्पूर्वकालसत्त्व-

---

ननु यस्मिन् यस्मिन् क्षणे यद्यत् कार्यं जायते तत्तत् कार्यं तत्तत्क्षणाधिकरणकं भवति, तादृशकार्यं प्रति तस्य एव कार्यस्य प्रागभावेन अवच्छिद्यते विशेष्यते अन्यस्मात् पृथक् क्रियते इति यावत्, स प्रागभावावच्छिन्नः कालः, स च सूक्ष्मोऽपि सम्भवति इत्यतः स्थूलो महान् यः कालः स एव उपाधिरूपः प्रतिबन्धको भवतु; यथा प्रलयकाले सिसृक्षायां सत्याम् अपि सृष्टिप्रागभावावच्छिन्नः अनेकमन्वन्तरपरिमितः स्थूलकालोपाधिः प्रतिबन्धकः, अन्यथा तत्र अपि सृष्टिः केन प्रतिबध्येत; यथा च सञ्जिहीर्षायां सत्याम् अपि प्रलयप्रागभावावच्छिन्नः स्थूलः सृष्टिकालः प्रतिबन्धकः, अन्यथा तत्र अपि प्रलयप्रसङ्गात्; एवम् अत्र अपि सामग्रीसमवधानाधिकरणक्षणप्रागभावावच्छिन्नः स्थूलकालोपाधिः प्रतिबन्धकः अस्तु इति चेत् तत्राह—न च इति। एवं हि इति। सृष्टिप्रलययोः

समयमें—जब उस अव्यवहित पूर्वक्षणका अभाव था—ही प्रतिबन्धकका अभाव होनेके कारण, इतरकारणसमवधानरूप कार्यकी उत्पत्ति हो जानेका अनिष्टप्रसंग आ उपस्थित होगा।

इससे बचनेके लिए एकदेशीका यह कहना भी ठीक न होगा कि क्षणविशेषोंमें होनेवाले विभिन्न कार्यविशेषोंके प्रागभावसे अवच्छिन्न स्थूल कालकी उपाधि उन कार्यविशेषोंका प्रतिबन्धक होती है, जैसे (सृष्टिके प्रागभावकी स्थितिका, अनेक मन्वन्तरोंका) स्थूल प्रलयकाल सृष्टिका प्रतिबन्धक होता है।

एकदेशीके इस कथनका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार भगवन्निष्ठ सिसृक्षा (सृष्टि करनेकी इच्छा) के नित्य होते हुए भी प्रलयकालमें सृष्टिके प्रागभावसे विशिष्ट अनेक मन्वन्तरपरिमित स्थूलकालरूप उपाधि सृष्टिमें प्रतिबन्धक होती है जिसके कारण सृष्टि नहीं होती और प्रलयकी ही स्थिति बनी रहती है एवं जिसके अभावमें प्रलयकालमें ही सृष्टि हो जा सकती है; तथा जिस प्रकार भगवन्निष्ठ सञ्जिहीर्षा (संहार करनेकी इच्छा) के नित्य होते हुए भी सृष्टिकालमें प्रलयके प्रागभावसे विशिष्ट अनेकमन्वन्तरपरिमित स्थूलकालरूप उपाधि प्रलयमें प्रतिबन्धक होती है जिसके कारण प्रलय नहीं होती और सृष्टि बनी रहती है एवं जिसके अभावमें सृष्टिकालमें ही प्रलय हो जा सकती है; उसी प्रकार भगवच्चिकीर्षासे इतर कारणसामग्रीके समवधानके क्षणके प्रागभावसे विशिष्ट स्थूलकालरूप उपाधि विभिन्न कार्योंकी उत्पत्तिकी प्रतिबन्धक होती है यह मान लेनेपर एकदेशीके पूर्वोक्त मतमें बताये जानेवाले कार्योंकी युगपदुत्पत्ति या नित्य उत्पत्तिके दोषका परिहार हो जाता है। सिद्धान्ती एकदेशीके इस परिहारमें दोष बताते हुए इसे अस्वीकार करनेका कारण स्पष्ट करता है।

नियमेन तदधिकरणकालस्य प्रलयसृष्टिकालातिरिक्तत्वापत्तेः, प्रतिबन्धकाभावस्य कारणत्वेन तत्पूर्वक्षणवर्त्तित्वस्यावश्यं वाच्यत्वात्, कार्यतदभावातिरिक्तकालस्य च उक्तान्यतराभावेन एव परास्तत्वात्, न चैवं वक्तुं शक्यम्, अप्रसिद्धेः।

तमःप्रकाशवत् परस्परं विरुद्धस्वभावत्वाद् एकस्य सत्त्वे अपरस्य असत्त्वं वाच्यम्, ततः सृष्टौ भवितव्यायां प्रतिबन्धकाभावत्वेन प्रलयाभावो हेतुः वाच्यः, स च स्वकार्यात् पूर्वकाले सत्त्वं नियतम् अपेक्षते, अतः सृष्टिकारणप्रलयाभावाधिकरणीभूतकालस्य न प्रलयाधिकरणत्वं, तदसत्त्वात्; नापि सृष्ट्यधिकरणत्वं जनिष्यमाणत्वात् तस्याः। अतः उभयानधिकरणस्य अपि सत्त्वाद् अतिरिक्तकालसिद्धिप्रसङ्गः स्यात्। स च प्रकृतानुपयुक्तत्वाद् व्यवहाराविषयत्वात् न शक्यवचनः इत्यर्थः।

ननु एवंविधोऽपि कालः कुतो न इत्यत आह—**कार्य**-इति। कार्यं सृष्टिः, तदभावः प्रलयः, ताभ्याम् अतिरिक्तस्य तदुभयानधिकरणस्य अपि **कालस्य**। उक्तौ यौ सृष्टिप्रलयौ, तयोः मध्ये एकस्य अपि अधिकरणं न भवति। एतदुभयव्यवहारातिरिक्तव्यवहाराभावात् तत्साधकं कार्यान्तरम् अपि नास्ति इत्यतः सुतरां तत्सिद्ध्यभावः इत्यर्थः।

इस प्रकार एकदेशीके पूर्वोक्त मतके अनुसार प्रलयाभाव सृष्टिका कारण है, अतः कारणके कार्यके नियत पूर्ववर्ती होनेसे प्रलयाभावके अधिकरणभूत कालको प्रलयकाल एवं सृष्टिकालसे अतिरिक्त मानना होगा। प्रतिबन्धकाभाव भी कारण होता है अतः प्रलयाभाव कारण है और इस कारणको कार्यके पूर्वक्षणमें वर्तमान अवश्य मानना होगा। कार्यकाल एवं कार्याभावकाल से अतिरिक्त किसी अन्य कालके हो सकनेका निरास पूर्वोक्त कार्य (सृष्टि) एवं कार्याभाव (प्रलय) से इतर किसी अन्यका अभाव होनेसे ही हो जाता है। और कार्य (सृष्टि) काल एवं कार्याभाव (प्रलय) काल के अतिरिक्त किसी अन्य कालका अस्तित्व है यह एकदेशी नहीं कह सकता क्योंकि ऐसा कोई काल (लोकव्यवहार या शास्त्रपरम्परा में) प्रसिद्ध नहीं है।

सिद्धान्तीके इस कथनका आशय अधोलिखित है। एकदेशीका कहना है कि भगवन्निष्ठ सिसृक्षाके (नित्य होनेके कारण) प्रलयकालमें भी विद्यमान होनेके बावजूद सृष्टिके प्रागभावकी स्थितिके स्थूलकालके प्रतिबन्धक होनेके कारण प्रलयकालमें सृष्टि नहीं होती। किन्तु सृष्टि और प्रलय अन्धकार और प्रकाशके समान परस्परविरुद्ध स्वभाववाले हैं अतः सृष्टिकालमें प्रलय एवं प्रलयकालमें सृष्टि नहीं हो सकती तथा एककी उपस्थितिमें दूसरेकी अनुपस्थिति माननी होगी। ऐसी दशामें भावी सृष्टिरूप कार्यके प्रति प्रलयाभावकी प्रतिबन्धकाभावरूपसे कारणता स्वीकार करनी होगी। प्रलयाभावको प्रतिबन्धका-

न च तत्तत्कालोपाध्यभाव एव प्रतिबन्धकः, तस्य प्रागभावरूपत्वेन प्रतियोगिसामग्र्या एव च तन्नाशकत्वेन तत्सत्त्वे तत्सत्त्वासम्भवात् ।

ननु यस्मिन्कालोपाधौ यत्कार्यं जायते तत्कालोपाधिप्रागभावः तत्कार्ये प्रतिबन्धकः इति चेत् तत्राह—न च इति । तस्य इति । कार्याधिकरणकालोपाधिकप्रागभावस्य प्रतियोगिप्रतिबन्धकत्वोक्तौ कारणसामग्र्या एव स्वकार्यप्रतिबन्धकत्वात् कार्यं किमपि न उत्पद्येत एव इति अर्थः ।

भावके रूपमें कारण मान लेनेपर इस कारणको अपने कार्यरूप सृष्टिके पहले निश्चितरूपसे विद्यमान मानना होगा क्योंकि कारण नियमतः कार्यका नियतपूर्ववर्ती होता है। ऐसी स्थितिमें प्रलयाभावरूप इस कारणके अधिकरणभूत कालको प्रलयकाल एवं सृष्टिकाल के अतिरिक्त कोई अन्य काल मानना पड़ेगा। प्रलयाभावके अधिकरणभूत इस कालको अतिरिक्त काल इसलिए कहना पड़ेगा कि इसे न तो प्रलयकाल कहा जा सकता है और न सृष्टिकाल अर्थात् इसका अधिकरण न तो प्रलयको माना जा सकता है और न सृष्टिको ही। इसे प्रलयका अधिकरण या प्रलयकाल इसलिए नहीं कहा जा सकता कि प्रलयाभावके समय प्रलयका अस्तित्व ही नहीं हो सकता। इसे सृष्टिकाल या सृष्टिका अधिकरण अधोलिखित कारणसे नहीं माना जा सकता। प्रलयाभाव प्रतिबन्धकाभावके रूपमें सृष्टिका कारण है अतः इसकी स्थिति भावी सृष्टि—जो प्रलयाभावका कार्य होनेके कारण उसकी नियतपरवर्ती होगी—से पहले माननी होगी। ऐसी दशामें इसका अधिकरण भावी कार्यरूप सृष्टिको नहीं माना जा सकता क्योंकि अधिकरण समकालिक ही हो सकता है भावी नहीं। इस प्रकार यदि एकदेशी सृष्टि एवं प्रलय मेंसे किसीका भी अधिकरण न होनेके बावजूद प्रलयाभावकालकी सत्ता प्रतिपादित करता है तो उसके सामने सृष्टिकाल एवं प्रलयकाल से भिन्न इस अतिरिक्त कालकी सिद्धि करनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा, किन्तु इस प्रकारका कार्य एवं कार्याभाव अर्थात् सृष्टि एवं प्रलय के कालसे अतिरिक्त काल न तो लोकव्यवहारका विषय ही है और न शास्त्रप्रसिद्ध ही। अतः ऐसे किसी अतिरिक्त कालका अस्तित्व सिद्ध नहीं किया जा सकता और इसलिए सिद्धान्ती कहता है कि असिद्ध प्रलयाभावको प्रतिबन्धकाभाव रूपसे सृष्टिरूप कार्यका कारण माननेका एकदेशीका मत ठीक नहीं है।

एकदेशीका यह कहना भी ठीक न होगा कि जिन-जिन कालोपाधियोंमें कार्य होता है उन-उन कालोपाधियोंके प्रागभावको उन कार्योंमें प्रतिबन्धक मान लेनेसे (एकदेशीके पूर्वोक्त मतमें बताये जानेवाले कार्योंकी युगपदुत्पत्ति या नित्य उत्पत्ति रूप) दोषका परिहार हो जाता है। एकदेशीके इस कथनके ठीक न होनेका कारण यह है कि जिस कालोपाधिमें कार्य होता है उसका अभाव प्रागभावरूप होगा और प्रागभावरूप होनेके कारण प्रतियोगी (कार्य) की सामग्री उसकी नाशक होगी, अतः प्रागभावरूप इस कार्यकालोपाधिके अभावके होनेकी

न च उत्तरक्षणचिकीर्षितघटस्य अधुना एव अकरणे उत्तरक्षणाभाव एव त्वयापि प्रतिबन्धको वाच्यः, इच्छाभावस्यैव तथात्वेऽपि 'सविशेषणे हि' इतिन्यायेन क्षणाभाव एव पर्यवसानाद् इति वाच्यम्। क्लृप्तकारणैः कार्योत्पत्तिसम्भवे येन कार्याभावः तदभावस्य हि प्रतिबन्धकाभावत्वेन कारणत्वं दाहे मण्यभावस्य इव; दण्डाद्यभावे घटानुत्पादेऽपि न तेषां प्रतिबन्धका-

---

ननु भाविकार्याधिकरणक्षणस्य अपि कारणत्वात् तदभावप्रयुक्त इदानीन्तनकार्याभाव इति चेत्, तत्राह—न च इति। क्लृप्तकारणैः इति। श्रुतिसिद्धम् इच्छायाः कारणत्वम्, अतः तस्या एव कारणत्वम् उचितम्। बहुत्वाभिधानं तु विषयभेदाभिप्रायेण ज्ञेयम्। इच्छाया भावरूपत्वात् तस्य कारणत्वे लाघवम्। क्षणाभावस्य प्रतियोगिनिरूपणाधीननिरूपणत्वात् तस्य कारणत्वे गौरवम्। यत्र अपि नान्तरीयकतया कारणत्वं प्राप्तं, तत्र अपि न सम्मुखेन, किन्तु प्रतिबन्धकाभावत्वेन एव कारणता। यथा दाहकार्ये उत्तेजकाभावविशिष्टमणेः प्रतिबन्धकत्वाद् उत्तेजकाभावविशिष्टमण्यभावस्य प्रतिबन्धकाभावत्वेन एव कारणता, न स्वरूपेण। तर्हि दण्डादीनाम् अपि किम् एवम् एव कारणता, न इत्याह—दण्डाद्यभाव इति।

स्थितिमें इसके नाशक कार्यकी उपस्थिति हो ही नहीं सकती।

यह कहना भी ठीक न होगा कि 'उत्तरक्षणमें उत्पाद्यमान घटके अभी उत्पन्न न होनेमें उत्तरक्षणका अभाव प्रतिबन्धक हेतु है ऐसा तुम्हें भी कहना चाहिए (अर्थात् मानना होगा) क्योंकि यद्यपि इच्छाका अभाव ही प्रतिबन्धक हेतु है तथापि 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणमुपसङ्क्रामतो विशेष्ये बाधके सति' इस न्यायसे इस हेतुका पर्यवसान उत्तरक्षण (अर्थात् कार्योत्पत्तिक्षण) के अभावमें ही होता है।'

तात्पर्य यह है कि उत्तरक्षणविशिष्ट इच्छासे कार्योत्पत्ति होने और उत्तरक्षणके अभावमें इच्छामात्रसे कार्योत्पत्ति न होने से उत्तरक्षणको ही कारण मानना चाहिए।

क्लृप्त कारणों अर्थात् कारणोंके समुच्चय से कार्यकी उत्पत्ति होनेकी स्थितिमें जिस (प्रतिबन्धक) की उपस्थितिके कारण कार्यका अभाव हो जाये (अर्थात् कार्यकी उत्पत्ति न होने पाये) उसके अभावको प्रतिबन्धकाभावके रूपमें कार्यकी उत्पत्तिका कारण माना जाता है, जैसे अग्नि दाहक होती है किन्तु अग्निके होते हुए भी यदि दाहप्रतिबन्धक मणि वहाँ रख दी जाये तो अग्नि प्रज्वलित नहीं होती और दाहरूप कार्य उत्पन्न नहीं होने पाता। अतः इस प्रकारकी मणिके

भावत्वेन कारणता, किन्तु दण्डत्वादिना।

प्रकृतेऽपि तत्क्षणविशिष्टेच्छाया हेतुत्वेन पूर्वं तदभावात् तद्विशिष्टतल्लक्षणहेत्वभावादेव कार्याभावः।

ननु एवमपि 'सविशेषणे हि' इति न्यायेन क्षणस्यैव कारणत्वम् आयाति। किञ्च, इच्छात्वेन एव लाघवात् कारणत्वम् इच्छायाः, न तु तद्विशिष्टत्वेन, गौरवात्। तथा च तत्क्षणलक्षण-

---

प्रकृतेऽपि इति। इच्छाया एव कारणत्वपक्षेऽपि तत्तत्कार्याधिकरणक्षण-विशिष्टाया एव हेतुत्वं वाच्यम्, तेन कार्यप्रागभावकाले विशेष्यसत्त्वेऽप्युभयाभावस्य सत्त्वाद् विशेषणाभावापत्तौ विशिष्टाभाव इति न्यायात्।

यत्सत्त्वे यत्सत्त्वं यदभावाद् यदभावः तत् तद्धेतुकम् इति अभिप्रेत्य क्षणस्य एव कारणत्वम् आशङ्कते—ननु इति। एवम् अपि विशेषणासत्त्वाद् विशेष्यासत्त्वे उच्यमानेऽपि। 'सविशेषणे हि विधिनिषेधौ विशेषणम् उपसङ्क्रामतो विशेष्ये बाधके सति' इति न्यायात् क्षणस्य एव कारणत्वम् आगतम्। किञ्च इति दूषणान्तरम्। येन अपि इच्छायां कारणत्वं वाच्यं तेन अपि इच्छात्वेन एव, न तु तत्तत्क्षणविशिष्टेच्छात्वेन अपि, गौरवग्रस्तत्वात्। घटकारणतायां दण्डत्वेन एव यथा न दृढदण्डत्वेन अपि इति। कार्योत्पत्तौ तु

अभावको प्रतिबन्धकाभावके रूपमें दाहरूप कार्यका कारण माना जाता है। यद्यपि कुम्हारके दण्ड (एवं चाक) आदिके अभावमें भी कार्यरूप मिट्टीके घड़ेकी उत्पत्ति नहीं होती तथापि उनकी कारणता प्रतिबन्धकाभावके रूपमें नहीं किन्तु दण्डत्व आदिके रूपमें ही होती है। प्रकृत (अर्थात् इच्छाको कारण माननेके) प्रसङ्गमें भी उन-उन कार्याधिकरणक्षणोंसे विशिष्ट इच्छाके ही हेतु होनेके कारण, उन (कार्योत्पत्तिके) क्षणोंसे पूर्व, उन क्षणोंसे विशिष्ट इच्छाका अभाव होनेसे तत्क्षणविशिष्ट इच्छारूप हेतुके अभावके कारण ही कार्यका अभाव रहता है अर्थात् कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

पूर्वपक्षीका कहना है कि इस तरहसे भी 'सविशेषणे हि' इस पूर्वोक्त न्यायसे क्षणकी ही कारणता सिद्ध होती है।

तात्पर्य यह है कि क्षणविशिष्ट इच्छासे कार्योत्पत्ति होती है और क्षणाभावविशिष्ट इच्छासे कार्योत्पत्ति नहीं होती अतः क्षणको ही कारण मानना चाहिए।

और भी। इच्छाको इच्छाके रूपमें कारण माननेमें कल्पनालाघव होता है और कार्योत्पत्तिक्षणविशिष्ट इच्छाके रूपमें कारण माननेमें कल्पनागौरव होता है अतः इच्छाको कारण मानने वालोंको केवल इच्छाको ही कारण मानना चाहिए।

सहकार्यभावात् न इच्छामात्रेण अन्यदा तत्कार्यम् इति चेद्, अत्र वादी प्रष्टव्यः, तत्क्षणाभावे को हेतुः इति। तत्साधनाभावः इति चेद्वदेत् तदा तत्रापि एवं प्रश्ने, तेन तत्तत्साधनपरम्पराभावः एव हेतुः वाच्यः। साधनपरम्परा च साध्यपरम्परायाम्। एवञ्च

क्षणलक्षणसहकारिम् अपेक्ष्य एव कार्यकारित्वं, न तन्मात्रेण इति चेद् ब्रूयात् तदा प्रष्टव्यः स इत्यर्थः। साधनपरम्परा च इति। साधनम् एव साध्यत्वेन ज्ञेयम्। एवञ्च इति। यत्र यत्कार्यं जायते तेन कार्येण तत्पूर्वतरपूर्वतमसाधन-

---

और तत्तत्क्षणरूप (अर्थात् कार्योत्पत्तिक्षणरूप) सहकारी कारणके अभावमें केवल इच्छासे उस क्षण (कार्योत्पत्तिक्षण) के अतिरिक्त अन्य क्षणोंमें कार्योत्पत्ति नहीं होती।

तात्पर्य यह है कि कार्यकी उत्पत्ति क्षणलक्षण अर्थात् कार्योत्पत्तिक्षणरूप सहकार कारणकी अपेक्षा रखकर ही होती है अतः क्षणविशिष्ट इच्छाको ही कारण मानना चाहिए, केवल इच्छाको नहीं।

पूर्वोक्त प्रकारका मत प्रकट करनेवाले वादीसे यह पूछना चाहिए कि यदि भगवान्‌की कार्य उत्पन्न करनेकी इच्छाके होते हुए भी उस क्षणविशेष (अर्थात् कार्योत्पत्तिक्षण) के अभावके कारण कार्यकी उत्पत्ति नहीं होती तो उस क्षणविशेष (अर्थात् कार्योत्पत्तिक्षण) के अभावका कारण क्या है? यदि वह यह उत्तर देता है कि उस क्षणरूप कार्यके उत्पादक साधन (पुष्कल कारणसामग्री) का अभाव ही उस क्षणके अभाव अर्थात् अनुत्पाद का कारण है, तो पुनः यही प्रश्न होता है कि उस क्षणरूप कार्यके साधनके अभाव का क्या कारण है? ऐसी दशामें उसे उस साधनके अभावका कारण भी उस साधनरूप कार्यकी उत्पादक कारणसामग्री अर्थात् उसके साधन के अभावको ही मानना पड़ेगा। इस प्रकार तत्तत् साधनोंके अभावके कारणके रूपमें उनके साधनोंके अभावकी परम्पराको ही कारण मानना होगा और तत्तत् साधनोंकी परम्पराको साध्य या कार्य मानकर उनके साधनोंकी परम्पराको ही उनका कारण मानना होगा।

इस प्रकार उत्पन्न होनेवाले कार्यसे पहले उसका साधन और उस साधनके उत्पन्न होनेके पहले उसका साधन इस तरह साधनपरम्परा माननेसे पूर्वपक्षीके मतमें अनवस्था दोष होगा। 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति' (तैत्ति० उप० २।६) अर्थात् 'उसने (परमात्माने) कामना की (अर्थात् ईक्षण या सङ्कल्प किया) कि मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् उत्पन्न हो जाऊँ' (तैत्ति० उप० २।६) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे बाधित होनेके कारण इस अनवस्थाको स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः इस अनवस्थासे और तत्तत् साधनपरम्परा एवं साध्यपरम्परा तथा कार्योत्पत्ति एवं कार्यानुत्पाद

सति तत्तत्परम्परासत्त्वासत्त्वयोः भगवदिच्छैव केवला हेतुरिति तेनापि मन्तव्यम्, अन्यथा तयोराकस्मिकत्वप्रसङ्गात्।

ननु अजन्यायास्तस्याः केवलायास्तथात्वे सर्वाभाव एव स्यात्, सर्वं वा युगपत् स्याद् इति चेत्, अत्रैवं ज्ञेयम्। त्वदुक्त-

---

परम्परा अस्ति इति ज्ञायते। सा च क्वचिद् विश्रान्ता वाच्या, अन्यथा अनवस्थादोष आपतेत्। अस्तु प्रामाणिकी सा इति चेत्, 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय' (तैत्ति० उप० २।६) इत्यादिश्रुतिविरोधात् न तथा। तथा सति प्रमाणान्तरसिद्धत्वाद् अनन्यगतिकत्वात् त्वया अपि कारणत्वेन इच्छा अवश्यं वाच्या, अन्यथा इच्छायां कारणताव्यवस्थितौ अनुच्यमानायां तयोः साधनसाध्यपरम्परासत्त्वासत्त्वयोः कार्यतदभावयोः वा आकस्मिकत्वं स्यात्। तथा सति बाह्यमतप्रवेशः स्याद् इति भावः।

वादी स्वमतं सदोषम् आज्ञाय सिद्धान्तिमतं स्वीकृत्य शङ्कते—ननु इति। परस्परविरुद्धसर्गसंहारयोः सिसृक्षासञ्जिहीर्षालक्षणोभयकारणयोः सर्वदा सत्त्वात् सार्वकालिकी सृष्टिः एव स्याद् वा सार्वकालिकः प्रलयो वा इत्यत्र कथं समाहितिः इति प्रश्ने, उत्तरं त्वदुक्त-इति। सर्वं स्यात् सर्वमपि न स्याद् इत्येवं-

---

को आकस्मिक माननेके नास्तिक मतमें प्रवेशसे बचनेके लिए वादीको भी यही मान लेना चाहिए कि तत्तत् साधनपरम्परा एवं साध्यपरम्परा के होने और उनका अभाव होने में केवल भगवदिच्छा ही हेतु है।

ऐसी स्थितिमें, 'तत्तत् साधनपरम्परा (या साधनसाध्यपम्परा) के होने या न होने में केवल भगवदिच्छा ही कारण है' ऐसा वादीको भी स्वीकार कर लेना चाहिए, क्योंकि ऐसा न माननेपर (अर्थात् भगवदिच्छाको उनका हेतु न माननेपर) वादीके सामने साधनसाध्यपरम्पराको एवं कार्योत्पाद और कार्यानुत्पाद को आकस्मिक माननेका (नास्तिक मत स्वीकार करनेका) अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा।

सिद्धान्तीके मतको स्वीकार करनेमें कठिनाई बताते हुए पूर्वपक्षी कहता है कि यदि जैसाकि सिद्धान्तीका कहना है केवल भगवदिच्छा—जो अजन्य है—को ही कारण मान लिये जाये तो या तो (इस अजन्य तथा नित्य इच्छाके सञ्जिहीर्षारूपमें सर्वदा होनेपर) सभी पदार्थोंका सर्वदा अभाव ही रहेगा या (इस अजन्य एवं नित्य इच्छाके सिसृक्षारूपमें सर्वदा होनेपर) सभी पदार्थोंकी युगपद् (और सार्वकालिकी सृष्टि होते रहनेसे) सर्वदा उपस्थिति ही रहेगी। इसके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि पूर्वपक्षीने जिस प्रकारसे प्रश्न उठाये हैं

रीत्या हि सर्गादिकारणे विमर्शः पर्यवस्यति । तच्च, श्रुतिसिद्ध-प्रकारकम् एव अङ्गीकर्त्तव्यमास्तिकैः । तत्र च केवलेच्छाया एव हेतुत्वम् उच्यते । तथा हि वाजसनेयिशाखायां, 'आत्मैवेदमग्र आसीत् पुरुषविधः, सोऽनुवीक्ष्य नान्यदात्मनोऽपश्यद्' (शतपथब्रा० १४।४।२।१; बृह० उप० १।४।१) इत्युपक्रम्य, अग्रे पठ्यते 'स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत् , स हैतावानास यथा स्त्रीपुंमासौ सम्परिष्वक्तौ स इममेवात्मानं द्वेधा पातयत् , ततः पतिश्च पत्नी चाभवताम्' (शतपथब्रा० १४।४।२।४; बृह० उप० १।४।३) इत्यादि । अत्र द्वितीयसृष्टौ इच्छामात्रस्य एव हेतुत्वम् उच्यते रमणेच्छायाश्च तदिच्छाप्रयोजकत्वम् ।

विधा या त्वदुक्तप्रश्नरीतिः, तया तु **रीत्या** सर्गप्रलययोः **कारणे** निश्चीयमाने, **विमर्शो** विचारः, इदम् उपपन्नं न वा इत्येवंविधः, **पर्यवस्यति** सम्भवति इत्यर्थः । **तत् च** इति । तद्विचारणम् अपि वक्ष्यमाणश्रुत्यादिषु यः सृष्टयादि-प्रकारः उक्तः तेन एव प्रकारेण **आस्तिकैः** परलोकमतिमद्भिः कर्तव्यम् इत्यर्थः । तथा सति सिद्धम् इच्छाया एव सर्वकारणत्वम् इति भावः । **तदिच्छा-**इति । **सृष्टीच्छाप्रयोजकत्वम्** इत्यर्थः ।

उससे विचारका पर्यवसान सृष्टि आदिके कारणमें होता है अर्थात् विचारका मुख्य विषय सृष्टिका कारण हो जाता है । सृष्टिके इस कारणका स्वरूप आस्तिकोंको वैसा ही मानना चाहिए जैसा कि श्रुतिसे सिद्ध होता हो । और श्रुतिमें केवल इच्छाको ही कारण कहा गया है । उदाहरणार्थ वाजसनेयिशाखामें (शतपथब्राह्मण और बृहदारण्यकोपनिषद् में "पहले यह पुरुषाकार आत्मा ही था । उसने अन्वीक्षा करनेपर अपनेसे भिन्न कुछ नहीं देखा" (शतपथब्रा० १४।४।२।१; बृह० उप० १।४।१ इत्यादि उपक्रमपूर्वक कहा गया है कि "वह रममाण नहीं हुआ । इसीसे एकाकी पुरुष रममाण नहीं होता । उसने दूसरेकी इच्छा की । वह (सत्यसङ्कल्प होनेके कारण) जिस प्रकार परस्पर आलिङ्गित स्त्री और पुरुष होते हैं ऐसा (अर्थात् ऐसे परिमाणवाला) हो गया । उसने अपने इस शरीरको ही दो भागोंमें विभक्त कर डाला । उससे पति और पत्नी हुए ।" (शतपथब्रा० १४।४।२।४; बृह० उप० १।४।३) इत्यादि । इस वाक्यमें दूसरेकी सृष्टिमें उसकी इच्छामात्रके कारण होनेकी बात कही गयी है और दूसरेकी सृष्टिकी कारणभूत इस इच्छाका प्रयोजक रमणेच्छाको बताया गया है ।

तथा च स्वक्रीडार्थमेव जगत्करणमित्यर्थः सम्पद्यते । अत एव श्रीभागवतेऽपि 'क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्' (भाग० ४।७।४३),[1] 'क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत् कृतं ते, स्वाम्यं तु तत्र कुधियोऽपर ईश कुर्युः ।' (भाग० ८।२२।२०) इत्याद्युक्तम् ।

एवं सति वस्तुनियमाभावे वैचित्र्याभावेन क्रीडाऽसम्भवात् तदर्थं कालावच्छेदे सति तदा तां तां लीलां करोति, करिष्यति,

---

एवं सति इति । स्वक्रीडार्थम् एव जगन्निर्माणम् इत्येवंरूपेऽर्थे सिद्धे सति । जगत्कारणेच्छारूपवस्तुनियमाभावे तन्निबन्धनं जगद्वैचित्र्यं न स्यात्तदभावे च क्रीडाऽपि न स्याद् इत्यर्थः । **तदर्थम्** इति वैचित्र्यपूर्वकक्रीडार्थम् ।

इस प्रकार इस वाक्यका यही अर्थ निकलता है कि उसने जगत्की रचना अपनी क्रीडाके लिए ही की है । इसीलिए श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है कि, "हे महत्तम ! चतुर्दशभुवनात्मक समस्त ब्रह्माण्ड आपकी क्रीडाका उपकरण है ।" (भाग० ४।७।४३), तथा "हे प्रभो ! आपने इस सम्पूर्ण लोकत्रयात्मक जगत्की सृष्टि अपनी क्रीडाके लिए की है किन्तु अन्य दुर्बुद्धि लोग स्वयंको इसका स्वामी समझ बैठते हैं ।" (भाग० ८।२२।२०) ।

सिद्धान्तीके कहनेका आशय यह है कि शतपथब्राह्मणके पूर्वोक्त वाक्यमें रमणेच्छा (अर्थात् क्रीडनेच्छा या लीला) को द्वितीयादिरूप सृष्टि करनेकी इच्छामें प्रयोजक तथा (उस सत्यसङ्कल्पकी) सृष्टि करनेकी इच्छामात्रको सृष्टिका कारण बताया गया है और श्रीमद्भागवतमें भी भगवान् द्वारा क्रीडार्थ जगत्की रचना करनेका उल्लेख है । इस प्रकार केवल भगवदिच्छा ही सृष्टिका हेतु मानी गयी है ।

ऐसी स्थितिमें अर्थात् सृष्टिकी रचना भगवान्ने अपनी क्रीडाके लिए ही की है यह बात निश्चितरूपसे सिद्ध हो जानेपर, श्रुत्यर्थापत्तिसे अर्थात् भगवदिच्छाको सृष्टिका कारण बतानेवाले श्रुतिवाक्योंके अन्यथा उपपन्न न होनेसे, यह निश्चय होता है कि जगत्की उत्पत्तिकी कारणभूत इच्छाके नियमनके विना जगत्में वैचित्र्य नहीं आ सकता था और जगत्के वैचित्र्यके अभावमें भगवान्की क्रीडा या लीला नहीं हो सकती थी, अतः भगवान् जगद्वैचित्र्यपूर्वक क्रीडा करनेके लिए कालविभाग कर तत्तत् कालमें तत्तत् लीला करते हैं, करेंगे और करते थे ।

---

१. अंशांशास्ते देव ! मरीच्यादय एते ब्रह्मेन्द्राद्या देवगणा रुद्रपुरोगाः ।
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन् ! तस्मै नित्यं नाथ नमस्ते करवाम ॥

भक्तिहेतुनिर्णयके पूर्वमुद्रित संस्करणमें 'विभूमन्' के स्थानपर 'भूम्नः' यह पाठ है । हमने यहाँ गोस्वामिश्रीगिरिधरलालकृत बालप्रबोधिनीके अनुसार पाठ एवं अर्थ स्वीकार किया है । श्रीधर, वंशीधर एवं विजयध्वज तीर्थके अनुसार भी पाठ 'विभूमन्' ही है ।

अकरोदिति। अन्यज्ञापनार्थं च तदवच्छेदिकां सूर्यादिगतिं विधाय तथा करोति इति श्रुत्यर्थापत्त्या अवसीयते।

एवं सति यदा यथा येन यत्र यद् भवति नश्यति न भवति वा, तदा तथा तेन तत्र तद्भवतु नश्यतु मा भूदिति सृष्टेः पूर्वमेव नियमः कृतः, इति न सर्वस्य अभावो युगपद्भावो वा प्राप्तावसरः। यतः साधनानां साध्यसाधनक्षमत्वं तत्तत्साध्यसाधकत्व-

---

कालस्य अवच्छेदकत्वे सति, तदा तदा तत्तत्कालावच्छेदेन अतीतानागतवर्तमानत्वादिज्ञापनाय तद्भेदकसूर्यादिगतिं कालपरिमित्यर्थं विधाय यथा इदानीम् अस्मदादीनां वर्तमानत्वादिना प्रतीतिः उत्पद्येत तथा एव भगवान् करोति इति वैदिकवाक्यात् श्रुत्यर्थस्य इच्छाकारणत्वस्य अनुपपत्त्या **अवसीयते** निश्चीयते इत्यर्थः।

एवं सति यत्र यदा यद् यथा प्रतीयते **तत् तत्र तदा तथा** एव इति **नियमः** सृष्ट्यारम्भ एव भगवता **कृतः इति** पूर्वोक्तसर्वाभावयुगपद्भावौ न प्रसज्येयाताम् इत्यर्थः। इदानींतनानां कर्तृत्वम् अस्मदादीनामपि ईश्वराधीनम् एव, न स्वाधीनम् इत्याह—**यत इति। साधनानां** धर्मादीनां स्वर्गादिफल-

---

कालावच्छेदसे किये जानेवाले इच्छाके नियमनको अन्यको (अर्थात् लोकको) समझानेके लिए भगवान् कालावच्छेदक सूर्यादिकी गतिका निर्माण कर लोगोंमें वर्तमान, भूत और भविष्य आदिकी प्रतीति उत्पन्न करते हैं।

सिद्धान्तीके कथनका तात्पर्य यह है कि शब्द प्रमाणसे यही ज्ञात होता है कि सृष्टिरचना भगवान्ने क्रीडार्थ अर्थात् लीलाके लिए की है। लीलाके लिए अनेकत्व एवं वैचित्र्य की अपेक्षा है अतः लीलार्थ सृष्टि होनेका प्रतिपादन करनेवाले वाक्य तभी उपपन्न होंगे जब यह मान लिया जाये कि भगवान्ने कालविभाग कर तत्तत् कालमें तत्तत् क्रीडा की, करते हैं और करेंगे। हमें उनके द्वारा किये गये इस कालविभागकी प्रतीति उनके द्वारा सृष्ट सूर्यादिकी गति आदिसे होता है।

ऐसी स्थितिमें जब जिस प्रकारसे जिसके द्वारा जहाँ जो होता है, नष्ट होता है, या नहीं होता, उस समय उस प्रकारसे उसके द्वारा वहाँ उसके होने, नष्ट होने या न होने का नियम भगवान्ने सृष्टिके पहले ही बना दिया था अतः सभी कार्यों या पदार्थों का एक साथ अभाव या सबकी एक साथ उत्पत्ति होनेका प्रसङ्ग ही उपस्थित नहीं होता।

पूर्वपक्षीका कहना था कि भगवदिच्छाके नित्य होनेके कारण उसे सृष्टिका कारण माननेपर सिद्धान्तीके सामने सभी कार्योंकी एक साथ अविद्यमानता या उत्पत्ति माननेका

नियमश्च तत्कृत एव, न तु स्वाभाविकः ।; अत एव कर्तृत्वमपि ईश्वराधीनमेव इति श्रुतिराह 'एष उ एव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति'[1] (कौषी० ब्राह्म० उप० ३।८) इत्यादिना ।

व्यासोऽपि 'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्रह्मसूत्र २।३।४१) इत्यादिना इममेवार्थं निर्णीतवान् । यथा च एतत् तथा 'विद्वन्मण्डने' प्रपञ्चितम् अस्माभिः ।

सम्पादनसामर्थ्यं नियतफलसाधकत्वं च भगवदेककर्तृकम् अतः सर्वकर्तृत्वं तस्य एव इत्यत्र श्रुतिं प्रमाणयन्ति 'एष उ वा' (कौषी० ब्राह्म० उप० ३।८) इत्यादिना ।

अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित होगा । सिद्धान्तीका उत्तर है कि कब कहाँ किसका उत्पाद या नाश होना है इसका निश्चय भगवान्ने सृष्टिके पहलेसे ही कर रखा है अतः उनकी इच्छाको सृष्टिका कारण माननेमें पूर्वोक्त अनिष्टप्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता ।

विभिन्न साधनोंका तत्तत् साध्योंको सिद्ध कर सकनेका सामर्थ्य तथा साध्य-विशेषके साधनविशेषसे ही सिद्ध हो सकनेका नियम स्वाभाविक न होकर भगवत्कृत ही है । इसीलिए जीवका कर्तृत्व भी ईश्वराधीन ही है । यही बात श्रुतिमें, "यही उस व्यक्तिसे सत्कर्म कराता है जिसको इन लोकोंसे उन्नत लोकोंमें ले जाना चाहता है ।" (कौषी० उप० ३।८) इत्यादि वाक्य द्वारा कही गयी है । वेदान्तसूत्रकार व्यासने भी 'परात्तु तच्छ्रुतेः' अर्थात् "जीवमें कर्तृत्व, जीवके ब्रह्मका अंश होनेके कारण, ब्रह्मके सम्बन्धसे आता है क्योंकि श्रुतिवाक्योंमें ऐसा ही कहा गया है[2] ।" (ब्रह्मसूत्र २।३।४१) इस सूत्रके द्वारा निर्णय किया है कि श्रुतिका तात्पर्य यही है कि जीवका कर्तृत्व ईश्वराधीन ही है स्वतन्त्र नहीं । इस मतका युक्तिपुरस्सर विस्तारसे प्रतिपादन हमने अपने विद्वन्मण्डनम् नामक ग्रन्थमें किया है ।

धर्मादिरूप साधनविशेषसे स्वर्गादिरूप फल अर्थात् साध्यविशेष की प्राप्ति हो सकनेका नियम और किसी साधनविशेषमें किसी साध्यविशेषको प्राप्त करा सकनेका सामर्थ्य

---

१. उपनिषत्संग्रहसम्मत पाठ 'एष ह्येवैनं साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ··· ।' (कौषी० ब्राह्म० उप० ३।८) है ।

२. कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव । तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं तदंशत्वादैश्वर्यादिवत् ।··· अतो 'नान्योऽतोऽस्ति' (शतपथब्रा० १४।६।७।२१; बृह० उप० ३।७।२३) इति सर्वकर्तृत्वं घटते । कुत एतत् ? तच्छ्रुतेः । तस्यैव कर्तृत्व-कारयितृत्वश्रवणात् । (अणुभाष्य २।३।४१) ।

ननु न इदं मदुक्ते बाधकम्, ईदृशस्य एव साधनत्वस्य कर्मसु अपि वक्तुं शक्यत्वाद् इति चेत्, स्याद् एतद् एवं यदि तन्निषेधो न स्याद् इत्युक्तम्। श्रुतिश्च 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन' (कठोप० १।२।२२, मुण्ड० उप०

ननु मन्मतेऽपि ईश्वरप्रेरितानां कर्मणां साधनत्वे न किञ्चिद् बाधकम् अस्ति, अतः तेषाम् अपि कारणत्वम् अस्तु, इत्यत आह— **स्याद् एतद् एवम्** इति। भवेद् एवं कर्मणां कारणत्वं यदि साक्षाद्वचनोत्थो **निषेधो न** उपलभ्येत। तस्मात् सिद्धं भगवदिच्छाधीनत्वम्।

स्वाभाविक नहीं भगवत्कृत ही है। जीवोंमें जो कर्तृत्व है वह भी उनके भगवदंश होनेके कारण उनमें भगवत्सम्बन्धसे ही आया है। इस प्रकार सर्वकर्ता भगवान् ही हैं और भगवदिच्छाको सृष्टिका कारण माननेके सिद्धान्तकी पुष्टि श्रुतिवाक्यों एवं ब्रह्मसूत्रोंसे होती है और इसकी विस्तारसे सिद्धि **विद्वन्मण्डनम्** में की गयी है।

'परात्तु तच्छ्रुतेः' (ब्रह्मसूत्र २।३।४१) का अर्थ यही है कि कर्तृत्व वस्तुतः ब्रह्मगत ही है। जीवमें जो कर्तृत्व उपलब्ध होता है वह (जीवके ब्रह्मका अंश होनेके कारण) उसमें ब्रह्मके सम्बन्धसे ही आता है। इसीलिए श्रुतिके **'नान्योऽतोऽस्ति' (शतपथ ब्रा० १४।६।७।३१; बृह० उप० ३।७।२३)** इत्यादि वाक्योंमें ब्रह्मके अलावा किसी अन्यके कर्तादि न होनेकी बात कही गयी है। स्वतन्त्र कर्ता और कारयिता केवल ब्रह्म ही है जीव नहीं यह सिद्धान्त, **'सर्वकर्मा' (छान्दो० उप० ३।१४।४), 'कर्ता कारयिता हरिः'** इत्यादि वाक्योंसे सिद्ध होता है।

पूर्वपक्षीका कहना है कि सिद्धान्तीके इस कथनसे पूर्वपक्षीके द्वारा प्रतिपादित किये जानेवाले मतका बाध या निरास नहीं होता क्योंकि जिस प्रकारका साधनत्व सिद्धान्तीको अभिप्रेत है वैसा ही साधनत्व कर्मोंमें है यह तो कहा ही जा सकता है।

पूर्वपक्षीके इस कथनका आशय यह है कि सिद्धान्तीका यही तो कहना है कि साधनोंका सामर्थ्य और जीवका कर्तृत्व स्वतन्त्र न होकर ईश्वरकृत या भगवत्प्रदत्त है किन्तु इस मतसे कर्मोंको भगवत्प्राप्ति या भगवद्भक्तिकी प्राप्तिका साधन माननेके पूर्वपक्षीके मतका बाध या विरोध नहीं होता क्योंकि पूर्वपक्षी यह मान ले सकता है कि कर्मोंमें भगवत्प्राप्ति करा सकनेकी सामर्थ्य स्वतन्त्र न होकर भगवत्प्रदत्त है और भगवत्प्रेरित कर्मानुष्ठान भगवद्भक्ति और भगवान् की प्राप्तिके साधन हैं। पूर्वपक्षीकी इस आशङ्काके उत्तरमें सिद्धान्तीका कहना है कि,

हम पहले ही कह चुके हैं कि यदि प्रमाण-वाक्योंमें स्पष्ट शब्दोंमें कर्मके भगवत्प्राप्तिका साधन होनेका निषेध न किया गया होता तो पूर्वपक्षी द्वारा बताये जानेवाले पूर्वोक्त प्रकारसे कर्मोंको भगवत्प्राप्तिका साधन मान लिया जा सकता था किन्तु श्रुति "इस आत्मा (अर्थात् परमात्मा) को न तो प्रवचनसे

३।२।३) इति इतरसाधननिषेधं कृत्वा 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' (कठोप० १।२।२२, मुण्ड० उप० ३।२।३) इत्यादिना भगवदनुग्रहैकलभ्यत्वं भगवति आह ।

किञ्च,

'न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे नङ्क्ष्यन्ति नोऽनिमिषो[1] लेढि हेतिः ।
येषामहं प्रिय आत्मा सुतश्च सखा गुरुः सुहृदो दैवमिष्टम् ॥'
(भाग० ३।२५।३८) ।
'तान्नोपसीदत हरेर्गदयाऽभिगुप्तान् नैषां वयं न च वयः प्रभवाम दण्डे ॥'

किञ्च, कालाधीनसाधनस्य क्षयिष्णुत्वाद् भक्तेः अपि तत्फलत्वोक्तौ स्वर्गादितत्फलवद् भक्तिमुक्त्यादीनाम् अपि क्षयिष्णुत्वापत्तिः अतो न अधिकं वाच्यम् इत्यर्थः ।

प्राप्त किया जा सकता है, न मेधासे और न बहुश्रुततासे ही" (कठोप० १।२।२३; मुण्डकोप० ३।२।३) इत्यादि वाक्य द्वारा परमात्माकी प्राप्तिमें भगवदनुग्रहेतर सारे साधनोंकी साधनताका निषेध करके, "यह तो जिसको वरण करता है उसीको प्राप्त हो सकता है" (कठोप० १।२।२३; मुण्डकोप० ३।२।३) इत्यादि वाक्यसे भगवान्के भगवदनुग्रहैकलभ्य होनेका प्रतिपादन करती है ।

तात्पर्य यह है कि श्रुति भगवत्प्राप्तिमें भगवदनुग्रहेतर कर्मादि सभी साधनोंकी साधनताका निषेध करती है और भगवान्को भगवदनुग्रहैकलभ्य बताती है अतः भक्ति एवं भगवान् की प्राप्ति वेदप्रमाणवादियोंके मतमें भगवदिच्छाधीन ही मानी जा सकती है, कर्माधीन नहीं ।

और भी, भगवान् कपिल द्वारा माता देवहूतिसे कहे गये, "जिनका एकमात्र प्रिय, आत्मा, पुत्र, मित्र, गुरु, सुहृद् और इष्टदेव मैं ही हूँ वे मत्पर अर्थात् मुझे ही सब कुछ समझनेवाले भक्तजन शान्तिमय वैकुण्ठधाममें पहुँचकर फिर नष्ट अर्थात् क्षीणपुण्य होकर वैकुण्ठसे पतित या दिव्यभोगोंसे वञ्चित नहीं होते तथा मेरा दिव्य आयुध कालचक्र भी उन्हें नहीं ग्रसता है ।" (भाग० ३।२५।३८) एवं यम द्वारा अपने दूतोंसे कहे गये, "उन (भगवदाश्रित और) भगवान्की गदा (कौमोदकी) से रक्षित भगवद्भक्तोंके

---

१. श्रीमद्भागवतके गोस्वामिश्रीगिरिधरलाल, श्रीधर, वीरराघव, विजयध्वजतीर्थ, जीव गोस्वामी, विश्वनाथ चक्रवर्ती और शुकदेव आदि व्याख्याकारोंने 'अनिमिष' पाठ मानकर ही व्याख्या की है। भक्तिहेतुनिर्णयके पूर्वमुद्रित संस्करणमें 'अनिमिषो' के स्थानपर 'निमिषो' यह पाठ है ।

(भाग० ६।३।२७) इत्यादिवाक्येषु भक्तानां कालानधीनत्वश्रवणादपि न कर्मसाध्यत्वं भक्तौ, कर्मणां तत्तत्काल एव विधानेन तदधीनत्वात् ।

कालसाध्यसाधनसाध्यफलस्य अपि तत्परिच्छेद्यत्वनियमात् स्वर्गादेः इव ब्रह्मभावस्य अपि कालसाध्यत्वात् तत्साध्यमुक्तौ अपि तथात्वम् ।

पास तुम कभी भी मत जाना क्योंकि इस प्रकारके इन भक्तोंको दण्ड देनेकी सामर्थ्य न तो हम सबमें है और न साक्षात् कालमें ही।" (भाग० ६।३।२७) इत्यादि वाक्योंमें यह बताया गया है कि भगवान्‌के भक्त कालके अधीन नहीं हैं। इससे भी यही सिद्ध होता है कि भक्ति कर्मसाध्य अर्थात् कर्मों द्वारा प्राप्य नहीं हो सकती क्योंकि कर्म तत्तत् कालमें ही किये जाते हैं अतः वे कालके अधीन ही होते हैं। कालसाध्य अर्थात् कालविशेषमें किये जानेवाले कर्मादिरूप साधनोंसे साध्य अर्थात् प्राप्त हो सकने वाला फल भी नियमतः कालपरिच्छेद्य ही होता है कालातीत नहीं, अतः कालाधीन कर्मोंसे साध्य स्वर्गादिकी ही भाँति ब्रह्मभावको भी कालसाध्य (अर्थात् कालाधीन कर्मोंसे साध्य) मानना होगा तथा कालाधीन कर्मोंसे साध्य मुक्तिको भी वैसा ही (अर्थात् कालाधीन या कालपरिच्छेद्य ही) मानना पड़ेगा और मुक्तिको भी कालातीत या नित्य न कहा जा सकेगा (जो पूर्वपक्षीको भी इष्ट नहीं हो सकता)।

सिद्धान्तीके उक्त कथनका आशय यह है कि श्रीमद्भागवतमें भगवद्भक्तोंको कालके अनधीन बताया गया है। कर्म कालमें ही किये जाते हैं और कालाधीन हैं। कालाधीन कर्मादिरूप साधनोंके स्वर्गादिरूप साध्य भी कालाधीन और क्षयिष्णु ही होते हैं। गीताके,

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा, स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकम्, अश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान् ॥
ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ (गीता ९।२०-२१)।

इत्यादि वाक्योंसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। कालाधीन और अनित्य साधनोंसे कालातीत और नित्य फलकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीलिए कठोपनिषद्‌में कहा गया है कि,

'जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।' (कठोप० २।१०)। अर्थात् कर्मफलरूप निधि अनित्य है। अनित्य साधनों द्वारा नित्य फलकी प्राप्ति किसी भी तरह नहीं हो सकती। यदि मुक्ति और भक्ति को कर्मसाध्य मान लिया जायेगा तो उन्हें भी अनित्य मानना होगा जो न तो प्रमाणसम्मत ही है और न पूर्वपक्षीको अभीष्ट ही। अतः भक्तिको कर्मसाध्य नहीं माना जा सकता।

अपरश्च,

'यदा यमनुगृह्णाति भगवान् आत्मभावितः।
स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठिताम् ॥' (भाग० ४।२९।४६)

इति वाक्यात् तादृशानुग्रह एव भक्तिमार्गे लोकवेदातीतत्वज्ञानं विश्वासश्च इति तद्रहितेषु तदधिकनिरूपणं व्यर्थम् इति तद्वत्सु स्वज्ञानलेशमात्रम् एतेन प्रकाशितम् इत्यलं विस्तरेण ।

तद्रहितेषु भक्तिविश्वासादिरहितेषु इत्यर्थः । तद्वत्सु भक्तिमार्गे लोकवेदातीतत्वज्ञानविश्वासवत्सु इत्यर्थः ।

भक्तिहेतुं विनिश्चित्य प्रवृत्तो भजने तु यः ।
तन्मनस्तोषकारिण्यस्त्वियं कृतिरखण्डिता ॥
श्रीविट्ठलपदाम्भोजस्मृतिमात्रहताशुभः ।
कृतवान् रघुनाथोऽहं भक्तिहेतुप्रकाशनम् ॥

इति श्रीश्रीमद्वल्लभनन्दनचरणैकशरणश्रीरघुनाथस्य कृतौ
भक्तिहेतुविवृतिः
समाप्ता ॥

और भी, श्रीमद्भागवतमें नारदजी द्वारा कहे गये, "हृदयमें बार-बार चिन्तन किये जानेपर भगवान् जिस समय जिस जीवपर कृपा करते हैं (तभी और वही जीव भगवत्तत्वको जान पाता है तथा इस ज्ञानके बाद निरन्तर भगवदेकनिष्ठ होनेके कारण) उसकी लौकिक मर्यादा (अर्थात् लौकिक व्यवहार) एवं वैदिक मर्यादा (अर्थात् वैदिक कर्ममार्ग) में बद्धमूल आस्था निवृत्त हो जाती है।" (भाग० ४।२९।४६) इत्यादि वाक्योंसे स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है कि पूर्वोक्त प्रकारका भगवदनुग्रह होनेपर ही यह ज्ञान एवं विश्वास होता है कि भक्तिमार्ग लोकवेदातीत है। अतः जिन लोगोंपर भगवदनुग्रह नहीं हुआ है और फलतः जिनमें भक्तिमार्गके लोकवेदातीत होनेका ज्ञान एवं विश्वास उदित नहीं हुआ है उनके लिए लोकवेदातीत भक्तिमार्गका अधिक निरूपण करना व्यर्थ है। इसीलिए मैंने (श्रीविट्ठलनाथने), जिनमें भगवदनुग्रहसे भक्तिमार्गके लोकवेदातीत होनेका ज्ञान एवं विश्वास उत्पन्न हो गया है उनके लिए, इस कृतिद्वारा अपने ज्ञानके लेशमात्रका प्रकाशन किया है।

गोपीशपदसर्वस्वः पितृपादाब्जसेवकः ।
निर्णीतवान् भक्तिहेतुं निगूढाशयविट्ठलः ॥ १ ॥
अहं कुरङ्गीदृग्भङ्गिसङ्गिनाङ्गीकृतोऽस्मि यः ।
अन्यसम्बन्धगन्धोऽपि कन्धरामेव बाधते ॥ २॥

इति श्रीमद्विट्ठलदीक्षितविरचितो
भक्तिहेतुनिर्णयः
सम्पूर्णः ॥

गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्णके चरणोंको ही सर्वस्व समझनेवाले, अपने पिता श्रीमद्वल्लभाचार्यके चरणकमलोंके सेवक तथा अत्यन्त गूढ आशयवाले श्रीविट्ठलनाथदीक्षितने इस कृति द्वारा अनुग्रहके ही भक्तिके हेतु होनेका निर्णय किया है ॥ १ ॥

मुझे मृगलोचनी गोपियोंके सङ्गी श्रीकृष्णने स्वीयत्वेन स्वीकार कर लिया है अतः अन्य किसीसे सम्बन्धकी गन्ध भी मेरे कन्धोंको बोझ बनकर कष्ट ही देती है ॥ २ ॥

श्रीमद्विट्ठलेश्वरदीक्षितविरचित
भक्तिहेतुनिर्णय
समाप्त हुआ ।

बाराबङ्कीतिनाम्नि प्रथितजनपदे पुण्यसाकेतसीम्नि,
शाकद्वीपीयविप्रेषु विजयनगरेऽभूद् भरद्वाजगोत्रः ।
शम्भोर्भक्तः भवानीपदयुगमधुलिड् विष्णुपादानुरक्तः,
लक्ष्मीनारायणाख्यः सुविदितमहिमा राजमान्यो मनीषी ॥
सूनोस्तस्यात्मजन्मा विमलमतिरुमाशङ्करस्य द्वितीयः,
मिश्रः केदारनाथः सहृदयहृदयोऽध्यापको दर्शनानाम् ।
हिन्दूनां प्राणभूते स्मरहरनगरीविश्वविद्यालयेऽस्मिन्,
व्याख्यामेनां स्वतुष्ट्यै व्यलिखदतिमुदा भक्तिहेतोः नवीनाम् ॥
ख-शून्य-बाणप्रमिते श्रीमद्वल्लभवत्सरे ।
व्याख्येयं पूर्तितां प्राप्ता विट्ठलेशोद्भवोत्सवे ॥

श्रीकेदारनाथमिश्रकृत
हिन्दी अनुवाद तथा
भक्तिहेतुनिर्णयप्रकाशिकाख्या हिन्दी व्याख्या
समाप्त ।

भक्तिहेतुनिर्णयमें उल्लिखित उद्धरणोंकी

आकरस्थलनिर्देशपूर्वक

अकारादिक्रमसे

अनुक्रमणिका

उद्धरण	आकरस्थल	पृष्ठ संख्या
अस्यां वै श्रूयमाणायां ···	(भाग० १।७।७)	१५
आत्मैवेदमग्र आसीत् ···	(शतपथब्रा० १४।४।२।१; बृह० उप० १।४।१)	४९
इति मां यः स्वधर्मेण ···	(भाग० ११।१८।४४)	४
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं ···	(भाग० ११।१९।२३)	२
एवं धर्मैः मनुष्याणाम् ···	(भाग० ११।१९।२४)	२
एष उ एव ···	(कौषी० ब्राह्म० उप० ३।८)	५२
केवलेन हि भावेन	(भाग० ११।१२।८)	२८
क्रीडाभाण्डं विश्वमिदं यस्य विभूमन्	(भाग० ४।७।४३)	५०
क्रीडार्थमात्मन इदं त्रिजगत्कृतं ते ···	(भाग० ८।२२।२०)	५०
जन्मान्तरसहस्रेषु	( )	२९
जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः ···	( )	३
जायस्व म्रियस्व	(छान्दो० उप० ५।१०।८)	३६
तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य ···	(भाग० ११।२०।३१)	३३–३४
तान्नोपसीदत हरेर्गदयाभिगुप्तान्	(भाग० ६।३।२७)	५४
ते नाधीत–	(भाग० ११।१२।७)	२७
ते नाधीतश्रुतिगणा नोपासितमहत्तमाः ···	(भाग० ११।१२।७)	२६
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ···	(भाग० १०।४७।२४)	३
देवोऽसुरो मनुष्यो वा	(भाग० ७।७।५०)	५
न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे ···	(भाग० ३।२५।३८)	५४
न किञ्चित् साधवो धीरा ···	(भाग० ११।२०।३४)	३४
न रोधयति मां योगो ···	(भाग० ११।१२।१)	२६
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो ···	(कठोप० १।२।२२; मुण्ड० उप० ३।२।३)	५३
परात्तु तच्छ्रुतेः	(ब्रह्मसूत्र २।३।४१)	२

पोषणं तदनुग्रहः	(भाग० २।१०।४)	३७
प्रीयतेऽमलया भक्त्या ···	(भाग० ७।७।५२)	७
भक्तियोगं स लभते ···	(भाग० ११।२७।५३)	३
भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय	(भाग० ७।९।९)	७
भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित्	( )	७
भगवान् भजतां मुकुन्दो मुक्तिं ददाति ···	(भाग० ५।६।१८)	३५
यत्कर्मभिर्यत्तपसा ···	(भाग० ११।२०।३२)	३४
यथानुष्ठीयमानेन त्वयि भक्तिर्नृणां ···	(भाग० ११।१७।२)	४
यदा यमनुगृह्णाति ···	(भाग० ४।२९।४६)	५६
यन्न योगेन साङ्ख्येन ···	(भाग० ११।१२।९)	२८
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः	(कठोप० १।२।२२; मुण्ड० उप० ३।२।३)	५४
यस्यानुग्रहमिच्छामि	( )	३८
येऽन्ये मूढधियो नागाः ···	(भाग० ११।१२।८)	२७
व्रतानि यज्ञः छन्दांसि ···	(भाग० ११।१२।२)	२६
सत्सङ्गेन हि दैतेया ···	(भाग० ११।१२।३)	२६
सर्वं मद्भक्तियोगेन ···	(भाग० ११।२०।३३)	३४
स वै नैव रेमे ···	(शतपथब्रा० १४।४।२।४; बृह० उप० १।४।३)	४९
श्रद्धाऽमृतकथायां मे	(भाग० ११।१९।२०)	२
सविशेषणे हि		४६

—०○✕○०—

भक्तिहेतुनिर्णयके इस संस्करणमें प्रयुक्त ग्रन्थोंकी अकारादिक्रमसे अनुक्रमणिका

(१) गोस्वामिश्रीविट्ठलनाथकृत ग्रन्थ

अष्टाक्षरनिरूपणम् (बृ० स० पृष्ठ १६१–१६३ में मुद्रित)।

गायत्र्याद्यर्थप्रकाशकारिका: (गायत्री व्याख्या)—श्रीवल्लभाचार्य ग्रन्थरत्नमाला प्रथम पुष्पमें मुद्रित, प्रकाशक—श्रीमग्नलाल शास्त्री, बम्बई

गीतातात्पर्यम्—हिन्दी अनुवादक—श्रीरमानाथ भट्ट, प्रकाशक श्रीगोरगोपाल शर्मा, बम्बई, सन् १९३४ ई०

गुप्तरस: (बृ० स० पृष्ठ १९२–१९५ में मुद्रित)।

चतु:श्लोकी (बृ० स० पृष्ठ १९७–१९८ में मुद्रित)।

जन्माष्टमीनिर्णय

पर्यङ्क: (बृ० स० पृष्ठ १५१–१५२ तथा २२६ पर मुद्रित)।

नवरत्नप्रकाश:—सम्पादक मूलचन्द्र तेलीवाला—धैर्यलाल सांकलिया, द्वितीय आवृत्ति प्रकाशक, श्रीपुष्टिमार्गीयपुस्तकालय, नडियाद, १९४२ ई०

न्यासादेशटीका (न्यासादेशविवृति:)—हिन्दी अनुवादक और प्रकाशक श्रीरमानाथ शर्मा, बम्बई, १९१६ ई०

प्रबोध: (बृ० स० पृष्ठ १८९–१९२ में मुद्रित)।

भक्तिहंस—श्रीकेदारनाथ मिश्र द्वारा सम्पादित, अनूदित एवं व्याख्यात, श्रीवाल्लभग्रन्थमाला प्रथमपुष्प, वाराणसी, १९७५ ई०

भुजङ्गप्रयाताष्टकम् (बृ० स० पृष्ठ १५८–१५९ में मुद्रित)।

मङ्गलाचरणम्—(विज्ञप्तिस्तोत्रके प्रारम्भमें मुद्रित)।

मङ्गलारार्तिकार्या (बृ० स० पृष्ठ १५०–१५१ में मुद्रित)।

मधुराष्टकविवृति:—श्रीपुष्टिमार्गीययुवकपरिषद् बम्बईसे सन् १९६२ ई० में प्रकाशित 'मधुराष्टकम्' में मुद्रित।

यमुनाष्टकविवृति:—श्रीबलभद्रशर्मा द्वारा सम्पादित, सन् १९१६ ई० में शु० सि० कार्यालय बम्बईसे प्रकाशित, 'श्रीयमुनाष्टकम्' में मुद्रित।

यमुनाष्टपदी (बृ० स० पृष्ठ १५६–१५८ में मुद्रित)।

रक्षास्मरणम् (बृ० स० पृष्ठ १९५–१९७ में मुद्रित)।

राजभोगारार्तिकार्या (बृ० स० पृष्ठ १५२–१५३ में मुद्रित)।

राधाप्रार्थनाचतु:श्लोकी (बृ० स० पृष्ठ १५९–१६० में मुद्रित)।

रामनवमीनिर्णय:, बृहन्मन्दिर विद्यालय, बम्बईसे वि० सं० १९९४ में प्रकाशित।

ललितत्रिभङ्गस्तोत्रम् (बृ० स० पृष्ठ १६३–१६९ में मुद्रित)।

विज्ञप्तिस्तोत्र—मूल संस्कृत तथा गुजराती अनुवाद, प्रकाशक श्रीभक्तिमार्गीय वाचनालय, बम्बई, वि० सं० २०१२.

विद्वन्मण्डनम् (विद्वन्म०)—श्रीवल्लभाचार्यविद्याविभाग, कामवनसे वि० सं० १९८३ में प्रकाशित।

विद्वन्मण्डनम् (प्रस्तावनाभागः)—(विद्वन्मण्डनप्रस्तावना)—श्रीवल्लभाचार्य-विद्याविभाग, कामवनसे वि० सं० १९८३ में प्रकाशित।

वृत्रचतुःश्लोकीव्याख्या (श्रीसुबोधिनी व्याख्या)—प्रकाशक, सेठ ना० जे० आ० ट्रस्ट, बम्बई, १९३७ ई०

वृत्रासुरचतुःश्लोकीविवृतिः, श्रीजीवनाचार्यपुष्टिमार्गसिद्धान्तकार्यालय बम्बईसे १९२२ ई० में प्रकाशित।

शयनारार्तिकार्या (बृ० स० पृष्ठ १५४ पर मुद्रित)।

शृङ्गाररसमण्डनम्—प्रकाशक, श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला, बम्बई, वि० सं० १९७५.

श्रीकृष्णप्रेमामृतविवरणम्—सम्पादक—प्रकाशक, श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला तथा धैर्यलाल सांकलिया, बम्बई, वि० सं० १९७५.

श्रीगोकुलाष्टकम् (बृ० स० पृष्ठ १६०–१६१ में मुद्रित)।

श्रीमङ्गलाचरणम् (बृ० स० पृष्ठ १४४ पर मुद्रित)।

श्रीमतीटिप्पणी (टिप्पणी) श्रीमद्भागवतसुबोधिनीपर टिप्पणी, प्रकाशक, धीरजलाल सांकलिया, बम्बई, वि० सं० २००७.

श्रीवल्लभाष्टकम् (बृ० स० पृष्ठ १४८–१५० में मुद्रित)।

श्रीसर्वोत्तमस्तोत्रम् (बृ० स० पृष्ठ १४४–१४८ में मुद्रित)।

श्रीस्फुरत्कृष्णप्रेमामृतम् (बृ० स० पृष्ठ १५५–१५६ में मुद्रित)।

श्रीस्वामिनीप्रार्थना (बृ० स० पृष्ठ १७५ पर मुद्रित)।

श्रीस्वामिनीस्तोत्रम् (स्वामिनीस्तोत्र)—(बृ० स० पृष्ठ १७७–१७९ में मुद्रित)।

श्रीस्वामिन्यष्टकम् (स्वामिन्यष्टक)—(बृ० स० पृष्ठ १७५–१७७ में मुद्रित)।

सन्ध्यारार्तिकार्याः (बृ० स० पृष्ठ १५३ पर मुद्रित)।

सिद्धान्तमुक्तावलीविवृतिः, सम्पादक—प्रकाशक, मूलचन्द्र तेलीवाला तथा धैर्यलाल सांकलिया, बम्बई, वि० सं० १९७९.

स्वप्नदर्शनम् (बृ० स० पृष्ठ १८६–१८९ में मुद्रित)।

(२) अन्य संस्कृत ग्रन्थ

उपनिषत्सङ्ग्रहः—मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७० ई०।

कठोपनिषद्—गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३.

कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् (कौषी० ब्राह्म० उप०) (उपनिषत्संग्रहः; पृष्ठ १९४-२०७ में मुद्रित)।

छान्दोग्योपनिषद् (छान्दो० उप०)—गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३.
तत्त्वार्थदीपनिबन्ध (शास्त्रार्थप्रकरण)—श्रीवल्लभाचार्यकृत । सम्पादक—अनुवादक एवं व्याख्याकार, केदारनाथ मिश्र, वाराणसी, १९०७ ई० ।
तत्त्वार्थदीपनिबन्ध—भागवतार्थप्रकरण, भाग १–२, सम्पादक—श्रीचीमनलालशास्त्री, प्रकाशक, बड़ा मन्दिर, सूरत, वि० सं० १९९१.
नामरत्नाख्यस्तोत्रम्—गोस्वामिश्रीरघुनाथकृतम् । (बृ० स० पृ० २३४-२३७ पर मुद्रित)।
बालप्रबोधिनी—गोस्वामि श्रीगिरिधरकृता श्रीमद्भागवतव्याख्या, प्रकाशक—श्रीकृष्णशङ्कर शुक्ल, अहमदाबाद ।
बृहत्स्तोत्रसरित्सागरः (बृ० स०) प्रकाशक—मणिलाल इ० देसाई, बम्बई, १९२७ ई० ।
बृहदारण्यकोपनिषद् (बृह० उप०)—गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१४.
ब्रह्मसूत्र—श्रीमदणुभाष्यम् के अधोलिखित संस्करण में मुद्रित ।
ब्रह्मसूत्रभावप्रकाशिकावृत्तिः (भावप्रकाशिकावृत्ति; भावप्र०) श्रीकृष्णचन्द्रकृता । सम्पादक-प्रकाशक—मूलचन्द्र तेलीवाला तथा धैर्यलाल सांकलिया, बम्बई, वि० सं० १९७९.
ब्रह्मसूत्राणुभाष्यप्रकाशः (अणुभाष्यप्रकाश)—गोस्वामिश्रीपुरुषोत्तमकृतः । चौखम्भा–वाराणसी ।
ब्रह्मसूत्राणुभाष्यप्रकाशरश्मि (अणुभाष्यप्रकाशरश्मि; भाष्यप्रकाशरश्मि)—श्रीगोपेश्वरकृत । श्रीधैर्यलाल सांकलिया द्वारा बम्बई से प्रकाशित । (भाष्यप्रकाशरश्मि संस्करण) ।
ब्रह्मसूत्राणुभाष्यप्रदीपः (अणु० प्रदीप; प्रदीप)—सम्पादक श्रीमग्नलाल शास्त्री, प्रकाशक वाडीलाल शाह, बम्बई, वि० सं० १९८० (प्रदीप सं०) ।
मुण्डकोपनिषद् (मुण्ड० उप०)—गीताप्रेस गोरखपुर, वि० सं० २०१३.
मैत्रेय्युपनिषद् (उपनिषत्संग्रहः, पृष्ठ २३७-२४१ में मुद्रित) ।
शतपथब्राह्मण (शतपथब्रा०) सम्पादक अल्बर्ट वेबर, चौ० सं० सी० आ० वाराणसी, १९६४ ई० ।
श्रीमदणुभाष्यम् (अणुभाष्य)—श्रीवल्लभाचार्यप्रणीतम् , प्रकाशक गवर्नमेण्ट सेण्ट्रल प्रेस, बम्बई, १९२१ ई० ।
श्रीमद्भगवद्गीता (गीता)—गुजराती प्रिंटिंग प्रेस, बम्बई १९३५ ई० ।
श्रीमद्भागवतमहापुराणम् (भागवत; भाग०)—गीताप्रेस, गोरखपुर, वि० सं० २०१०.
श्रीमद्भागवतसुबोधिनी (भागवतसुबोधिनी; भाग० सुबो०) श्रीवल्लभाचार्यकृता ।

सिद्धान्तमुक्तावलीटिप्पणी—श्रीद्वारकेशकृता, श्रीमूलचन्द्र तेलीवाला एवं धैर्यलाल सांकलिया द्वारा बम्बई से वि० सं० १९७९ में प्रकाशित 'सिद्धान्त-मुक्तावली' में मुद्रित।

सिद्धान्तशोभा—विद्वन्मण्डनव्याख्या। पूर्वोल्लिखित विद्वन्मण्डन में मुद्रित।

सुबोधिनीटिप्पण्योः प्रकाशः (सुबो० टि० प्रकाशः)।

सेवाकौमुदी—श्रीबालकृष्णभट्टकृत, प्रकाशक श्री बालकृष्ण शुद्धाद्वैत संस्कृत पुस्तकालय, बम्बई, १९१९ ई०।

(३) अन्य ग्रन्थ

अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय—डॉ० दीनदयाल गुप्त।

गोस्वामी श्रीविट्ठलनाथजी (गो० श्रीवि०) श्रीहरिशंकर शास्त्री, प्रकाशक श्रीचतुर्भुजदास पारिख, वाराणसी, सन् १९६५ ई०।

चौरासी वैष्णवनकी वार्ता (चौ० वार्ता) भावप्रकाश सहित : सम्पादक-प्रकाशक द्वारकादास परीख, मथुरा, वि० सं० २०१०.

दो सौ बावन वैष्णवनकी वार्ता (दो० वार्ता) खण्ड १-३ भावप्रकाश सहित : सम्पादक–गो० श्रीव्रजभूषण शर्मा तथा द्वारकादास परीख, प्रकाशक–शुद्धाद्वैत एकेडमी, कांकरोली, वि० सं० २००८-२०१०.

वल्लभाख्यान—श्रीगोपालदासकृत, प्रकाशक, श्रीमदनमोहन पुस्तकालय, वाराणसी, वि० सं० २०१४.

श्रीवल्लभवंशवृक्ष तथा उत्तरभारतीय आन्ध्र (तैलङ्ग) भट्ट वंशवृक्ष।

शुद्धाद्वैतपुष्टिमार्गीय संस्कृत वाङ्मय—खण्ड १–२, लेखक–पो० कण्ठमणि शास्त्री, प्रकाशक–विद्याविभाग, कांकरोली, वि० सं० २०२०–२०२२.

श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप—गो० श्याम, श्रीवाल्लभग्रन्थमाला पुष्प-४, वाराणसी, सन् १९७४ ई०।

श्रीविट्ठलेशचरितामृत (श्रीवि० च०) : श्री द्वारकादास परीख, प्रकाशक—श्रीबजरंग पुस्तकालय, मथुरा, वि० सं० २०११.

A History of Indian Philosophy (भारतीय दर्शनका इतिहास) Vol. IV.—Dr. S. N. Dasgupta Published by the Syndics of the Cambridge University Press, Reprint 1961.

A Sanskrit English Dictionary—Sir Monier Monier-Williams, Motilal Banarasidass, Delhi, 1976.

Literary Heritage of the Rulers of Amber and Jaipur with an Index to the Register of Manuscripts in the Pothi-Khana of Jaipur. Shri G. N. Bahura, M.S.M. Museum, City Palace, Jaipur, 1976 A. D.